डॉ० सोमवीर
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

प्रश्नपत्र 15D : संस्कृत भाषा और व्याकरण

वाक्यपदीय

प्रथम काण्ड

(ब्रह्मकाण्ड)

अनुक्रम :

सम्पादक :
डॉ० रमाकान्त उपाध्याय

मुक्त शिक्षा विद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
5, कैवलरी लेन, दिल्ली-110007

वाक्यपदीय

प्रथम काण्ड

पाठ-1

भूमिका

डॉ. मिथिलेश चतुर्वेदी
रीडर, शिवाजी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-27

भारतीय दर्शन और व्याकरण के क्षेत्र में भर्तृहरि का *वाक्यपदीय* अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समादृत है। व्याकरण-दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत एवं विवर्तवाद की शुरुआत का श्रेय भर्तृहरि को ही दिया जाता है। *वाक्यपदीय* में हमें भर्तृहरि की विलक्षण मौलिकता के दर्शन होते हैं। इसलिए संस्कृत व्याकरण एवं भारतीय दर्शन के परवर्ती विद्वानों ने उनकी पर्याप्त चर्चा की है। संस्कृत वैयाकरणों ने तो अपने मत की उपस्थापना में प्रमाणस्वरूप उन्हें उद्धृत किया ही है, शान्तरक्षित और कमलशील जैसे बौद्ध दार्शनिकों, कुमारिल, *पार्थसारथिमिश्र* और *मण्डनमिश्र* प्रभृति मीमांसकों, और जयन्त, *वादिदेवसूरि* और प्रभाचन्द्र जैसे नैयायिक और जैन *तार्किकों* ने भी उनके ग्रन्थ को व्यापक रूप से उद्धृत किया है। कश्मीर शैव दर्शन के महान् आचार्य अभिनवगुप्त उनकी चर्चा अत्यन्त आदर से करते हैं। परवर्ती आचार्यों द्वारा *वाक्यपदीय* से उद्धृत कारिकाओं की विस्तृत सूची के.वी. अभ्यंकर और वी.पी. लिमये द्वारा संपादित *वाक्यपदीय* (1965) के परिशिष्ट तीन और छ: में देखी जा सकती है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर भर्तृहरि का समय 400 से 500 ई. के बीच रखा जा सकता है।

वाक्यपदीय के अतिरिक्त भर्तृहरि का दूसरा ग्रन्थ *महाभाष्य* पर उनकी टीका है। इसका उल्लेख *महाभाष्यटीका*, *महाभाष्यदीपिका* तथा *महाभाष्य-त्रिपादी* के रूप में भी हुआ है। वर्तमान में उपलब्ध टीका प्रथम अध्याय के प्रथमाह्निक के बीच से आरम्भ होकर सातवें आह्निक के बीच में अचानक समाप्त हो जाती है। भर्तृहरि की प्रसिद्धि *शतकत्रय* (नीति, श्रृंगार और वैराग्यशतक) के रचयिता के रूप में भी है। किन्तु *महाभाष्यटीका* और *वाक्यपदीय* के रचयिता वैयाकरण-दार्शनिक भर्तृहरि एवं *शतकत्रय* के रचयिता कवि भर्तृहरि एक ही थे या भिन्न-भिन्न, यह कहने के लिए कोई असंदिग्ध साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

वाक्यपदीय की विषय-वस्तु

वाक्यपदीय जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, वाक्य और पद से सम्बन्धित ग्रन्थ है (वाक्यं च पदं च वाक्यपदे - तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः वाक्यपदीयम्)। इसमें वैयाकरण-दार्शनिक की दृष्टि से शब्दब्रह्म, उसकी शक्तियाँ, काल, दिक्, जाति, द्रव्य, ध्वनि, शब्दार्थ-सम्बन्ध, वाक्य एवं वाक्यार्थ जैसे भाषा-दर्शन-विषयक प्रश्नों का विवेचन किया गया है। हमारे भाषागत व्यवहार कैसे संभव होते हैं? श्रोता किसी वाक्य को कैसे समझता है? शब्द का क्या स्वरूप है? शब्द अपने अर्थ को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है? शब्द और उसके अर्थ के बीच क्या सम्बन्ध है? शब्द जिसका कथन करता है वह क्या केवल मानसिक सत्ता है या बाह्य सत्ता है? क्या शब्द में सत्य को पूर्णतः व्यक्त करने की सामर्थ्य है? वाक्य क्या है? क्या यह एक स्वतन्त्र सत्ता है या मात्र वर्णों का समूह? इस प्रकार के अनेक प्रश्न सदियों से भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन एवं विवेचन का विषय रहे हैं। भर्तृहरि ने इन समस्याओं पर व्यापक चिन्तन किया है और इस सम्बन्ध में उनका योगदान सर्वथा मौलिक और अद्वितीय है। ये और ऐसे अनेक प्रश्न ही *वाक्यपदीय* का विषय हैं।

वाक्यपदीय तीन काण्डों में विभक्त है जिन्हें क्रमशः *ब्रह्मकाण्ड* अथवा *आगमकाण्ड*, *वाक्यकाण्ड*, और पदकाण्ड अथवा *प्रकीर्णक* के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी *तृतीय काण्ड* का उल्लेख एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रुप में भी मिलता है। उदाहरण के लिये, *गणरत्नमहोदधि* में वर्धमान कहते हैं - "*भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।*" स्वयं भर्तृहरि के कथनानुसार प्रथम दो काण्डों में वर्णित अनेक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन तृतीय काण्ड में हुआ है। भर्तृहरि के मत में अखण्ड वाक्य ही सत्य है और पद असत्य विभाजन हैं जिनकी कल्पना भाषा को समझने में सौकर्य की दृष्टि से की गई है। इस अपोद्धृत पद और पदार्थ के विश्लेषण के लिए ही चौदह समुद्देशों में विभक्त *पदकाण्ड* अथवा *प्रकीर्णक-काण्ड* की रचना हुई है। इस काण्ड में क्रिया, साधन (कारक), उपग्रह (आत्मनेपद और परस्मैपद) और वृत्ति आदि के अतिरिक्त काल और दिक् की अवधारणा पर भी चर्चा की गयी है और इस पर भी कि अपोद्धृत शब्द का अर्थ जाति है या द्रव्य। तृतीय समुद्देश अर्थात् सम्बन्धसमुद्देश में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया गया है। किन्तु पदकाण्ड में भी भर्तृहरि वाक्य की अखण्डता पर बल देते चलते हैं। द्वितीय काण्ड में प्रमुख रूप से वाक्य और वाक्यार्थ की चर्चा है। भर्तृहरि के मत में वाक्य मात्र पदों का समूह नहीं है। न ही

वे ऐसा मानते हैं कि वाक्यार्थ पदों के अर्थों के परस्पर सम्बन्ध से निर्मित होता है जैसा नैयायिक और मीमांसक मानते हैं। वाक्य से प्राप्त निर्णय एक है। बहुत्ववादी एकत्व को अनेकत्व से निष्पन्न मानता है किन्तु भर्तृहरि के मत में एकत्व ही मौलिक है। एकत्व की स्वाभाविक चेतना ही पृथक्-पृथक् अवधारणाओं को एक साथ रखती है। भर्तृहरि के मत में वाक्य के अर्थ की अभिव्यक्ति एक स्फुरण अथवा अन्तःप्रज्ञात्मक प्रकाश के रूप में होती है। श्रोता जब किसी संदेश को ग्रहण करता है तो उसमें पदों या वर्णों पर ध्यान नहीं देता। वह सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को एक बार में ग्रहण करता है। पदों अथवा पदांशों में वाक्य का विश्लेषण तो एक परवर्ती घटना है और पदों के अर्थों का ग्रहण वाक्यार्थ के स्फुरण अथवा अन्तःप्रज्ञात्मक प्रकाश के लिए आवश्यक तैयारी भर है। इस प्रकार वाक्यार्थ का ज्ञान प्रातिभ ज्ञान है और वाक्यार्थ प्रतिभा-स्वरूप है। इसलिए वाक्य एक निरवयव इकाई है जिसमें समझने की सुविधा के लिए पदों की कल्पना कर ली जाती है। नैयायिक एवं मीमांसक पदों के समुच्चय एवं पदार्थों के संसर्ग के विषय में जो विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं उनसे भर्तृहरि का यह मत बिल्कुल अलग है। द्वितीय काण्ड के आरम्भ में वाक्य के स्वरूप के विषय में आठ विभिन्न मत प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि पदवादी के तर्क और वाक्यवादी द्वारा उनके उत्तर को स्थापित करते हैं। इस विषय में अधिक विस्तार के लिए गौरीनाथ शास्त्री की पुस्तक *शब्दार्थमीमांसा* (1992), *पंचम उन्मेष*, और के.ए.सुब्रह्मण्य अय्यर की *Bhartrhari* (1969) द्रष्टव्य हैं।

प्रथम काण्ड

प्रथम काण्ड ब्रह्म की चर्चा से आरम्भ होता है और इसीलिए इसका नाम ब्रह्मकाण्ड है। इसे *आगमकाण्ड* अथवा *आगमसमुच्चय* भी कहते हैं, *आगमकाण्ड* इसलिए क्योंकि भर्तृहरि ने यहाँ आगम अथवा शिष्टपरम्परा के प्रामाण्य पर बल दिया है और *आगमसमुच्चय* *शायद* इसलिए कि अगले काण्डों में प्रतिपादित व्याकरण आगम के सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण यहाँ संक्षेप में कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, ब्रह्म अथवा परमतत्त्व की चर्चा केवल इसी काण्ड में नहीं, अपितु अगले दोनों काण्डों में भी मिलती है।

वाक्य और पद के विवेचन से सम्बन्धित व्याकरण के इस ग्रन्थ का आरम्भ ब्रह्म की चर्चा से क्यों होता है? प्रथम काण्ड की कारिका 24-26 में यह स्पष्ट किया गया है कि आठ पदार्थों का निरूपण इस प्रकरण का विषय है - दो प्रकार का अर्थ, दो प्रकार का शब्द, दो प्रकार का सम्बन्ध और दो प्रकार का फल। इनकी विस्तृत चर्चा हम इन कारिकाओं की व्याख्या में करेंगे। अर्थ का प्रतिपादन और धर्म दो प्रकार का फल है किन्तु भर्तृहरि इस फल को धर्म से और आगे ले जाते हैं और वह है मोक्ष। भर्तृहरि ने व्याकरण को मोक्ष-प्राप्ति का द्वार कहा है जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष का स्वरूप है ब्रह्मप्राप्ति। अपने अन्तरतम में अवस्थित आभ्यन्तर शब्द ब्रह्मस्वरूप है जिसकी प्राप्ति का साधन भर्तृहरि ने व्याकरण को माना है। इसीलिए सर्वप्रथम चार कारिकाओं में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। तदनन्तर वेद को उसकी प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए व्याकरण को उसका प्रथम अंग बतलाया गया है। भर्तृहरि के मत में व्याकरण शब्द के तत्त्व का ज्ञान कराता है। इसके अनन्तर शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन किया गया है और फिर प्रकरण के विषयभूत आठ पदार्थों का निर्देश किया है। तत्पश्चात् यह बतलाया गया है कि शिष्ट आगम से प्राप्त साधु शब्द धर्म के साधन हैं। किन्तु अर्थबोध तो अपभ्रंश शब्दों से भी हो सकता है? अपभ्रंश शब्दों के वाचकत्व के प्रश्न पर भर्तृहरि ने इस काण्ड के अन्तिम भाग में विचार किया है। शिष्टों से प्राप्त आगम की चर्चा करते हुए भर्तृहरि तर्क और अनुमान की अपर्याप्तता की ओर इंगित करते हैं और आगम के प्रामाण्य पर बल देते हैं।

भर्तृहरि का शब्दविषयक विवेचन *वाक्यपदीय* की 44वीं कारिका से प्रारम्भ होता है। अर्थ का वाचक शब्द बुद्धि में एक इकाई के रूप में स्थित है। अर्थ को लिये हुए एक इकाई के रूप में गृहीत यह बुद्धिस्थ शब्द ही स्फोट है। यह ध्वनियों का कारण भी है और उनके द्वारा अभिव्यक्त होकर अर्थ को भी प्रकट करता है। स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार कोई शब्द या वाक्य केवल व्यवस्थित ध्वनियों का समूह नहीं है अपितु एक अर्थवान् इकाई है। एक अर्थवान् इकाई के रूप में गृहीत पद या वाक्य ही स्फोट है - *स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः* वाचक इति यावत् (नागेश का *स्फोटवाद*)। *स्फोटसिद्धि* में मण्डन मिश्र स्पष्ट करते हैं - *पदवाक्ये एव हि स्फोटः।* स्फोट एक, अखण्ड और निरवयव है और उन ध्वनियों से भिन्न है जो स्फोट को व्यक्त करने के लिए एक कालिक क्रम में उच्चरित होती हैं। ध्वनि के धर्म स्फोट पर आरोपित कर दिए जाते हैं और इसलिए अखण्ड स्फोट क्रमवान सा प्रतीत होता है। स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे होती है, इस पर भर्तृहरि अपने समय में प्रचलित विभिन्न मतों का उल्लेख करते हैं। स्फोट की अखण्डता को वे विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। इसी संदर्भ में वे प्राकृत ध्वनि और वैकृत ध्वनि की चर्चा भी करते हैं। वे यह भी बतलाते हैं कि शब्द बाह्य अर्थ के अतिरिक्त अपने स्वरूप का भी ग्रहण कराता है। इस तथ्य की चर्चा उन्होंने तीसरे काण्ड में भी की है। स्फोट क्या है, इस विषय में भर्तृहरि ने अन्य कुछ मतों का उल्लेख भी किया है जिनकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। स्फोट की चर्चा के बाद वे इस सम्बन्ध में युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् की प्रकृति शब्द है। वाक् की तीन अवस्थाओं की चर्चा करते हुए वे व्याकरण को उसका अधिष्ठान बतलाते हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, प्रथम काण्ड के अन्तिम भाग में भर्तृहरि अपभ्रंश शब्दों को लेकर विचार करते हैं।

वाक्यपदीय की टीकाएँ

वाक्यपदीय के तीनों काण्डों में लगभग 2000 कारिकाएँ हैं। अनेक बार कारिकाओं की संक्षिप्तता अथवा दुरूहता के कारण उनमें प्रस्तुत अवधारणाओं को भली भाँति समझने के लिए हमें उन पर टीकाओं की आवश्यकता पड़ती है। कतिपय विद्वानों का मानना है कि किसी भी ग्रन्थ का अध्ययन ग्रन्थकार के अपने शब्दों के प्रकाश में ही किया जाना चाहिए क्योंकि टीकाकार परवर्ती विकास-क्रम से प्रभावित होकर उसके परिप्रेक्ष्य में ही मूल लेखक की व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए, भर्तृहरि के चिन्तन के संदर्भ में गौरीनाथ शास्त्री जैसे विद्वान भी यही मानते हैं कि परवर्ती व्याख्याकारों ने उनकी व्याख्या शांकर वेदान्त के प्रकाश में की है। यह बात पूर्णत: सत्य हो तो भी रचनाकार ने जिस परम्परा में ग्रन्थ की रचना की है उससे भली भाँति परिचित होने में ये टीकाएँ हमारी अनिवार्य सहायक हैं। कालिक क्रम की दृष्टि से भी ये टीकाकार मूल लेखक के अत्यन्त निकट हैं और उनकी परम्परा के वाहक माने जा सकते हैं। कारिकाओं के भीतर किसी नये प्रकरण की शुरुआत के बारे में भी हमें टीकाओं से ही सूचना मिलती है। इसलिये *वाक्यपदीय* पर उपलब्ध प्राचीन टीकाओं का परिचय प्राप्त करना हमारे लिये आवश्यक है। वृषभदेव *पद्धति* टीका के आरम्भ में बतलाते हैं कि उनसे पूर्व इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ रची जा चुकी थीं। किन्तु वर्तमान में चार प्राचीन टीकाएँ *वाक्यपदीय* के पृथक्-पृथक् अंशों पर उपलब्ध हैं यद्यपि इनमें से कोई भी सम्पूर्ण *वाक्यपदीय* पर नहीं है। इन टीकाओं का अतिसंक्षिप्त परिचय हम यहाँ दे रहे हैं।

वृत्ति : संस्कृत वाङ्मय में अनेक शास्त्रकारों ने अपनी कारिकाओं पर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है। *काव्यप्रकाश, स्फोटसिद्धि, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली* और *साहित्यदर्पण* आदि इस प्रकार की वृत्तियों के उदाहरण हैं। वस्तुत: कारिका और वृत्ति मिलकर ही ये ग्रन्थ पूर्णता प्राप्त करते हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रथम और द्वितीय काण्ड पर उपलब्ध यह वृत्ति भी भर्तृहरि की स्वरचित वृत्ति है यद्यपि इस विषय पर विद्वानों में पूर्ण मतैक्य नहीं है। जो भी हो, *वृत्ति वाक्यपदीय* पर उपलब्ध प्राचीनतम टीका है। वर्तमान में यह *वृत्ति* प्रथम काण्ड पर सम्पूर्ण और द्वितीय काण्ड पर खण्डित रूप में मिलती है। *वृत्ति* की पुष्पिका में इसके रचयिता का नाम हरिवृषभ मिलता है और चारुदेव शास्त्री (1934), सुब्रह्मण्य अय्यर (1969) और अशोक अकलूजकर (1972) ने सिद्ध किया है कि ये हरिवृषभ और भर्तृहरि एक ही हैं। उनकी युक्तियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं - (क) पुष्पिकाओं में *वृत्ति* के रचयिता का नाम हरिवृषभ है, हरि भर्तृहरि के नाम का संक्षेप है और संभव है कि वृषभ उनकी सम्मानसूचक पदवी हो। (ख) भर्तृहरि की *महाभाष्यटीका* और *वृत्ति* में अनेक अंशों में पर्याप्त साम्य है। (ग) परवर्ती आचार्यों ने भर्तृहरि के नाम से जो गद्य-उद्धरण दिये हैं उनमें अनेक वर्तमान *वृत्ति* में मिलते हैं। दूसरी ओर, एम. बिआर्दो और हाल ही में जे. ब्रॉन्खॉर्स्ट ने इसके भर्तृहरिकृत होने में संदेह व्यक्त किया है। कर्तृत्व के इस प्रश्न में निहित परिणाम महत्त्वपूर्ण हैं। यदि *वृत्ति* को भर्तृहरि की स्वोपज्ञ टीका माना जाए तो इसमें अभिव्यक्त मत भर्तृहरि के अपने मत माने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, यह एक जटिल प्रश्न है कि भर्तृहरि विवर्तवादी थे या नहीं। यदि *वृत्ति* को भर्तृहरिकृत माना जाए तो यह निर्णायक रूप में कहा जा सकता है कि भर्तृहरि विवर्त शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं जिसमें आगे चलकर शांकर वेदान्त में उसका प्रयोग हुआ है। पं. चारुदेव शास्त्री के मत में कारिका और वृत्ति दोनों मिलकर ही *वाक्यपदीय* हैं। तृतीय काण्ड पर अपनी टीका के प्रारम्भ में हेलाराज कहते हैं कि प्रथम दो काण्डों पर उनकी टीका (जो संप्रति अनुपलब्ध है) *वृत्ति* के अनुसार लिखी गई थी। प्रथम काण्ड पर **वृषभदेव** की *पद्धति* टीका कारिका और वृत्ति दोनों पर लिखी गई थी। इस सबसे इस निष्कर्ष को बल मिलता है कि यह *वृत्ति* भर्तृहरि की स्वोपज्ञ वृत्ति है।

वृषभदेवकृत पद्धति : जैसा हम पहले कह चुके हैं, वृषभदेव की *पद्धति* टीका *वाक्यपदीय* के प्रथम काण्ड की कारिका और वृत्ति, दोनों पर मिलती है। यह अत्यन्त विद्वतापूर्ण टीका है। *वृत्ति* की भाषा अनेक स्थलों पर दुरूह है और उसे समझने में *पद्धति* की सहायता हमारे लिए बहुमूल्य है।

पुण्यराज की टीका : सन् 1887 में बनारस संस्कृत सीरीज़ में *वाक्यपदीय* के प्रथम काण्ड के साथ पुण्यराज की टीका *वाक्यपदीयप्रकाश* के नाम से प्रकाशित हुई थी। जैसा आगे चलकर पं. चारुदेव शास्त्री और अन्य विद्वानों ने बतलाया, यह टीका वास्तव में पुण्यराज की न होकर *वृत्ति* का संक्षिप्त रूप थी। द्वितीय काण्ड पर पुण्यराज की टीका के दो संस्करण पं. रघुनाथ शर्मा और सुब्रह्मण्य अय्यर द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। अशोक अकलूजकर (1974) ने यह मत व्यक्त किया था कि यह टीका वस्तुत: हेलाराज द्वारा रचित है यद्यपि बाद में एक लेख में (1993) उन्होंने अपने मत में संशोधन करते हुए कहा कि यह हेलाराज की टीका का संक्षिप्त रूप है।

हेलाराज-कृत प्रकीर्णप्रकाश : यह टीका *वाक्यपदीय* के तृतीय काण्ड पर मिलती है। हेलाराज की टीका भर्तृहरि के दर्शन को समझने के लिए अपरिहार्य है। हेलाराज *वाक्यपदीय* के दार्शनिक और प्रक्रिया-सम्बन्धी बिन्दुओं पर विस्तार से अपने विचार रखते हैं और अपनी मौलिकता की छाप छोड़ते हैं। कभी-कभी भर्तृहरि किसी विषय में अनेक मतों का उल्लेख करते हैं। हेलाराज यह

जानने में हमारी सहायता करते हैं कि इनमें वैयाकरण का सिद्धान्त-पक्ष कौन सा है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर हेलाराज का समय दसवीं शताब्दी में माना जा सकता है।

वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड पर उपलब्ध सामग्री

सभी उपलब्ध प्राचीन टीकाओं के साथ सम्पूर्ण *वाक्यपदीय* के आलोचनात्मक संस्करण के संपादन का श्रेय के.ए.सुब्रह्मण्य अय्यर को है यद्यपि प्रथम काण्ड का *वृत्ति*-सहित संपादन सर्वप्रथम पं. चारुदेव शास्त्री ने किया था। अय्यर ने प्रथम काण्ड की कारिकाओं और *वृत्ति* का और द्वितीय एवं तृतीय काण्डों की कारिकाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया है, साथ ही उनके स्पष्टीकरण के लिए अपनी टिप्पणियाँ भी दी हैं। केवल कारिकाओं के पाठ के साथ अभ्यंकर-लिमये द्वारा संपादित *वाक्यपदीय* एक खण्ड में प्रकाशित हो चुका है। इसकी एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसमें दिये गये सात परिशिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त भी *वाक्यपदीय* के अनेक अनुवाद एवं व्याख्याएँ प्रकाशित हैं जिनमें प्रथम काण्ड के कुछ अनुवादों का समावेश आगे दी गई संदर्भ-ग्रन्थ-सूची में किया गया है। प्रथम काण्ड के हिन्दी अनुवादों में शिवशंकर अवस्थी का संस्करण कारिका और वृत्ति दोनों का अनुवाद और व्याख्या करता है। वामदेवाचार्य की विस्तृत व्याख्या संस्कृत और हिन्दी दोनों में है। आधुनिक संस्कृत व्याख्याओं में सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण पं. रघुनाथ शर्मा की *अम्बाकर्त्री* व्याख्या है जो सम्पूर्ण *वाक्यपदीय* पर है और अनेक खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है। प्राचीन टीकाओं का आश्रय लेते हुए की गई यह व्याख्या भर्तृहरि की कारिकाओं के मर्म को समझने में सहायक है।

भर्तृहरि के दर्शन के अध्येताओं में सुब्रह्मण्य अय्यर और गौरीनाथ शास्त्री के नाम सर्वोपरि हैं। अय्यर ने भर्तृहरि और उनके टीकाकारों के समय और अन्य समस्याओं के अतिरिक्त भर्तृहरि के सिद्धान्तों का व्यापक विवरण दिया है। गौरीनाथ शास्त्री की कृतियाँ भर्तृहरि के दर्शन को एक क्रमबद्ध स्वरूप देने का उत्कृष्ट प्रयास हैं। भर्तृहरि के स्फोट-सिद्धान्त का विवेचन के. कुंजुन्नी राजा और एस.डी.जोशी ने भी अपने ग्रन्थों में किया है। वीरेन्द्र शर्मा ने *वाक्यपदीय* के सम्बन्धसमुद्देश पर अपने अध्ययन में भर्तृहरि के शब्दाद्वैत, स्फोटवाद, अपभ्रंश की वाचकता जैसे विषयों पर भी विस्तार से चर्चा की है। अशोक अकलूजकर ने बीस से अधिक शोधपत्रों में भर्तृहरि के दर्शन के अलावा उनके ग्रन्थ से सम्बन्धित पाठ-विषयक और इतिहास-विषयक समस्याओं पर भी विचार किया है। इनके अतिरिक्त भी भर्तृहरि के *वाक्यपदीय* पर अनेक कार्य प्रकाशित हैं। इनमें कुछ का उल्लेख संदर्भग्रन्थ-सूची में किया जाएगा।

वाक्यपदीय के पृथक्-पृथक् संस्करणों में दी गई कारिकाओं की संख्या में भेद है। इसका एक कारण यह है कि अनेक कारिकाओं को कुछ संपादकों ने कारिकापाठ के अन्तर्गत न मान कर *वृत्ति* के अंश माना है। प्रस्तुत व्याख्या के लिए हमने मुख्य रूप से अय्यर के संस्करण को आधार बनाया है। *वृत्ति* एवं *पद्धति* के उद्धरण भी उसी संस्करण से हैं किन्तु कारिका-संख्या हमने अभ्यंकर-लिमये के संस्करण के आधार पर दी है क्योंकि यही संख्या अधिक प्रचलित है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची

1. **मूल ग्रन्थ एवम् अनुवाद**

अभ्यंकर, के. वी. एवं वी.पी. लिमये (संपा.)

1965: *Vākyapadīya of Bhartṛhari*, पूना विश्वविद्यालय, पूना।

1970: *Mahābhāṣyadīpikā of Bhartṛhari*, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीटयूट, पूना।

अय्यर, के. ए. सुब्रह्मण्य

1963 (संपा.): *Vākyapadīya of Bhartṛhari*, with the commentary of Helārāja, Kāṇḍa III, Pt. I, दक्कन कॉलेज, पूना।

1965 (अंग्रेजी अनुवाद एवं व्याख्या): *Vākyapadīya of Bhartṛhari*, with the Vṛtti, Chapter I, English Translation, दक्कन कॉलेज, पूना।

1966a (संपा.): *Vākyapadīya of Bhartṛhari* with the commentaries Vṛtti and Paddhati of Vṛṣabhadeva, Kāṇḍa I, दक्कन कॉलेज, पूना।

1966b (संपा., अंग्रेज़ी अनुवाद एवं व्याख्या): *Sphoṭasiddhi of Maṇḍana Miśra*, दक्कन कॉलेज, पूना।

1973 (संपा.): *Vākyapadīya of Bhartṛhari* with the commentary of Helārāja, Kāṇḍa III, Pt. ii, दक्कन कॉलेज, पूना।

1983 (संपा.): *Vākyapadīya of Bhartṛhari* with the commentary of Punyaraja and the ancient Vṛtti Kāṇḍa II, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

अवस्थी, शिवशंकर

1990 (हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या): *भगवद्भर्तृहरिविरचितं वाक्यपदीयम्, तत्कृतया वृत्त्या संवलितम्, हिन्दीविवरणसमलङ्कृतम्* (प्रथमं ब्रह्मकाण्डम्), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

कीलहॉर्न, एफ

1962 (संपा.): *The Vyākaraṇa-Mahābhṣya of Patañjali*, 3rd edition by K.V. Abhyankar, खंड I, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना।

झा, द्रव्येश एवं वेदानन्द झा

2002 (संस्कृत टीकाएँ एवं हिन्दी व्याख्या): *वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड:*, पं. द्रव्येश झा-प्रणीत- प्रत्येकार्थप्रकाशिका-पं. वेदानन्दझाविरचित-नन्दासूर्यमाया-टीकात्रयसंवलित:, मन्दाकिनी संस्कृत विद्वत्परिषद्, दिल्ली।

वामदेव आचार्य

1987 (संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या:): *वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम् श्रीवामदेवाचार्यस्य संस्कृत-हिन्दी-प्रतिभया व्याख्यया समन्वितम्*, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।

शर्मा, रघुनाथ

1963 (संस्कृत व्याख्या): *वाक्यपदीयं प्रथमो भाग: ब्रह्मकाण्डम्*, श्रीरघुनाथशर्मविरचितया अम्बाकर्त्रीव्याख्यया संवलितम्, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शुक्ल, सूर्यनारायण एवं रामगोविन्द शुक्ल

1961 (संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या): *वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्डम्*, पं. सूर्यनारायणशुक्लेन स्वप्रणीतेन भावप्रदीपाख्य-व्याख्यानेन टिप्पणेन च समलङ्कृतम् पं. रामगोविन्दशुक्लेन हिन्दी-व्याख्यया भूमिकया च समलङ्कृत्य संपादितम्, चौखम्बा, वाराणसी।

2. अध्ययन

अकलूजकर, अशोक

1972: "The authorship of the Vākyapadiya-Vṛtti", WZKS 16, pp. 181-98.

1974: The authorship of the Vākyapadiya ṭīkā Charudeva Shastri Felicitation Volume, pp. 165-88.

1993: "An Introduction to the Study of Bhartṛhari", *Bhartṛhari, Philosopher and Grammarian*, edited by Saroja Bhate and J. Bronkhorst, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

अय्यर, के. ए. सुब्रह्मण्य

1969: *Bhartṛhari*, Deccan College, Poona.

कुंजुन्नी राजा, के.

1964: *Indian Theories of Meaning*, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास।

कोवर्ड, हॅरोल्ड जी. एवं के. कुंजुन्नी राजा

1990: *Encyclopaedia of Indian Philosophies, Vol. 5: The Philosophy of the Grammarians*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

गौरीनाथ शास्त्री

1959: *The Philosophy of Word and Meaning*, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता।

1980: *The Dialectics of Spoṭa*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

1992: *शब्दार्थमीमांसा* (गौरीनाथ शास्त्री : 1959 का हिन्दी अनुवाद), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

जोशी, एस. डी.

1964: "Introduction: The Spoṭa Theory", *The Sphoṭanirṇaya of Kaustubhadeva*, pp. 1-91, CASS, पूना विश्वविद्यालय, पूना।

त्रिपाठी, रामसुरेश

1972: *संस्कृत व्याकरण-दर्शन*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

शर्मा, वीरेन्द्र

1977: *वाक्यपदीय-सम्बन्धसमुद्देश, एक अध्ययन*, होशियारपुर।

संक्षेप-चिह्न-सूची

अष्टा.	अष्टाध्यायी
क.उ.	कठोपनिषद्
जाति.	जातिसमुद्देश (वा.प., तृतीयकाण्ड का प्रथम समुद्देश)
मनु.	मनुस्मृति
म.भा.	महाभाष्य
म.भा.दी.	महाभाष्यदीपिका
मी.सू.	मीमांसासूत्र (जैमिनिकृत)
वा.प.	वाक्यपदीय (अय्यर संस्करण)
शां.भा.	शांकरभाष्य

वाक्यपदीय–ब्रह्मकाण्ड

पाठ - 2

कारिका 1 - 12

(मूल, अनुवाद और व्याख्या)

अवतरणिका - जैसा इसके नाम से प्रकट है *वाक्यपदीय* की विषय-वस्तु वाक्य और पद का विवेचन होना चाहिए। आगे कारिका 24-26 में स्पष्ट किया गया है कि आठ पदार्थों का निरूपण इस प्रकरण का विषय है। किन्तु व्याकरण के इस ग्रन्थ का आरम्भ ब्रह्म की चर्चा से क्यों होता है? भर्तृहरि ने व्याकरण को मोक्षप्राप्ति का द्वार माना है। अतः व्याकरण का चरम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष का स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति है। अपने अन्तरतम में अवस्थित शब्द ब्रह्मस्वरूप है जिसका साक्षात्कार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। इसीलिये प्रथम चार कारिकाओं में ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन किया गया है।

1. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अनुवाद : ब्रह्म जो आदि और अन्त से रहित है, शब्दस्वरूप है, अक्षर है, जिससे अर्थ के रूप में जगत् की प्रक्रिया का उद्भव होता है;

व्याख्या : इस काण्ड की प्रथम पाँच कारिकाएँ परस्पर संबद्ध हैं। प्रथम चार कारिकाओं में दिये गये 'यत्' शब्द का सम्बन्ध पाँचवीं कारिका में 'तस्य' शब्द के साथ है। इन चारों कारिकाओं में शब्दब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए पाँचवीं कारिका में उसकी प्राप्ति का उपाय वेद को बतलाया गया है। इसलिए इन कारिकाओं में 'यत्' शब्द के द्वारा गृहीत वाक्य की पूर्ति पाँचवीं कारिका के 'तस्य' शब्द से होगी। 'अनादिनिधन' द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास है। नञ् का सम्बन्ध आदि और निधन दोनों से है। जो आदि और निधन, दोनों से रहित है वह अनादिनिधन है। ब्रह्म को अनादिनिधन कह कर यह बतलाया गया है कि वह काल और देश की सीमाओं में नहीं बँधता, साथ ही कालोपाधिक और देशोपाधिक सभी व्यवहारों से ब्रह्म का ही ग्रहण होता है क्योंकि देश और काल भी ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। *वृत्ति* के अनुसार ब्रह्म सभी अवस्थाओं में आदि और निधन, अर्थात् उत्पत्ति और विनाश, से रहित है - '*सर्वास्ववस्थासु अनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते।*' *पद्धति* टीका के रचयिता वृषभदेव ने ब्रह्म की दो अवस्थाओं की चर्चा की है - संवर्त और विवर्त। समस्त विकारसमूह जिस अवस्था में ब्रह्म में एकीभूत होता है वह ब्रह्म की संवर्त-अवस्था है। (*अनेकस्य एकत्रोपसंहारः संवर्तः*)। ब्रह्म इस अवस्था में सभी मिथ्या आभासों से परे है। यह ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है।[1] अविद्या के कारण ब्रह्म में विभागों की जो प्रतीति होती है वह ब्रह्म की विवर्त-अवस्था है। इस अवस्था में भी ब्रह्म आदि और निधन से परे है। वस्तुतः कालकृत विभाग (हुआ, हो रहा है, होगा आदि) और मूर्तिकृत विभाग (जैसे घट, पट, घोड़ा, गाय आदि) एक अनादि अभ्यास के कारण प्रतीत होने वाले मिथ्या प्रत्यय हैं और ब्रह्म उन सभी मिथ्या प्रत्ययों से परे है (सर्वपरिकल्पातीततत्त्वम्)। इस प्रकार न केवल *पारमार्थिक* रूप में, अपितु व्यावहारिक रूप में भी ब्रह्म आदि और निधन से परे है। ब्रह्म कार्यरूप भी है और *कारणरूप* भी। विभागावस्था में वह कार्यरूप है और अविभक्त अवस्था वाला ब्रह्म कारण है। किन्तु जैसा कि *वृत्ति* में कहा गया है, ब्रह्म का अवच्छेद संभव नहीं। कारण की स्थिति तभी तक रहती है जब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जब दोनों ही ब्रह्म से अभिन्न और, इसलिए, एक हैं तो उत्पत्ति और विनाश का प्रश्न ही नहीं। ब्रह्म में कालविभाग का कोई प्रसंग नहीं क्योंकि ब्रह्म की न कोई पूर्व सीमा है, न पर सीमा। ब्रह्म के मूर्त विवर्तों का परिच्छेद भी संभव नहीं। वे सभी दिशाओं में हैं और अनन्त हैं। *कूर्मपुराण* में कहा है कि परमात्मा द्वारा रचित ब्रह्माण्डों की संख्या करोड़ों में है - '*अण्डानामीदृशानां तु कोट्यः संख्याः प्रकीर्तिताः।*' इसलिए वृषभदेव कहते हैं कि न केवल अविवर्त-अवस्था में अपितु विवर्त-अवस्था में भी ब्रह्म आदि और निधन से रहित है।

ब्रह्म शब्दस्वरूप है, ऐसा कहने का क्या आधार है? सर्वप्रथम तो यह कि विकारों में प्रकृति का अनुगम देखा जाता है। सुवर्ण से बने पदार्थों की प्रकृति सुवर्ण है और मिट्टी से बने पदार्थों की प्रकृति मिट्टी। इस दृष्टि से देखें तो प्रत्येक पदार्थ अन्ततः एक शब्दरूप से जुड़ा हुआ है। अविद्या के कारण भिन्नरूप माने जाने वाले सभी पदार्थ किसी शब्दरूप से जुड़ते हैं। शब्द ही सभी पदार्थों का ग्रहण कराता है। शब्द के बिना उनका निरूपण संभव नहीं। यदि अर्थ शब्दात्मक न होता तो शब्द से शब्द की ही प्रतीति होती, अर्थ की नहीं। सभी व्यवहार भी शब्द से ही संभव होते हैं। अतः सब विषयों और व्यवहारों की मूल प्रकृति शब्दात्मक होनी चाहिये। दूसरे, किसी भी पदार्थ का शब्द के साथ तादात्म्य देखा जाता है। घट कहने पर घटशब्द और घटपदार्थ, दोनों ही हमारे ज्ञान में

1 ब्रह्म की अवधारणा को समझने के लिए वेदान्त में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षणों की बात की गई है। लक्ष्य में रहते हुए जो लक्ष्य को परिभाषित करे वह लक्षण स्वरूपलक्षण है, जैसे, 'सत्-चित्-आनन्द' अथवा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के स्वरूपलक्षण हैं क्योंकि वे ब्रह्म के स्वरूप में समाविष्ट हैं। किन्तु जब ब्रह्म को जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के स्रोत के रूप में परिभाषित किया जाता है, जैसे 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र, 1.1.2) में, तो यह ब्रह्म का तटस्थलक्षण है क्योंकि जगत् का कर्तृत्व ब्रह्म के स्वरूप में समाविष्ट नहीं है।

अवभासित होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सभी विकारों की मूल प्रकृति शब्द ही है। जैसा आगे चलकर भर्तृहरि ने कहा है, कोई ज्ञान भी शब्द से अन्वित हुए बिना नहीं रह सकता (*न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते*)। शब्द के माध्यम से ही ज्ञान का ग्रहण होता है। ज्ञान संसार की सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है किन्तु शब्द ज्ञान का भी प्रकाशक है। इस प्रकार शब्द स्वप्रकाश है, अतः शब्द चैतन्यरूप है। इस दृष्टि से ब्रह्म को शब्दस्वरूप कहना सर्वथा युक्तिसंगत है। जिस व्यक्त शब्द के द्वारा व्यवहार चलता है वह वस्तुतः सूक्ष्म शब्दतत्त्व का विकास है जिसे वैयाकरण 'पश्यन्ती' अथवा 'परा' कहते हैं जिसमें वर्णों का सांकर्य नहीं है और शब्द और अर्थ का भेद नहीं है। वही शब्दब्रह्म की सर्वोच्च अवस्था है। इसके विषय में आगे कारिका 143 में चर्चा होगी।

वृत्ति के अनुसार, ब्रह्म अक्षरों (वर्णों) का कारण है, इसीलिए ब्रह्म को अक्षर कहा गया है। वस्तुतः वाक् अर्थ के साथ एकाकार होकर अन्तरात्मा (प्रत्यक्चैतन्य) में अधिष्ठित रहती है। जब वक्ता अपनी बात दूसरे तक संप्रेषित करना चाहता है तो यह वाणी प्राणवृत्ति के माध्यम से अनुगृहीत होकर वर्णों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। यह अभिव्यक्ति शब्दब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) दोनों ही शब्दब्रह्म के विवर्त हैं।

यदि ब्रह्म शब्दात्मक है और उससे भिन्न कुछ नहीं तो इसका अर्थ यह हुआ कि शब्द से भिन्न कुछ है ही नहीं। फिर शब्द अभिधान किसका करता है? और यदि अभिधेय को शब्द से भिन्न मानें तो अद्वैतवाद का खण्डन होता है। इसका उत्तर भर्तृहरि के इस कथन में मिलेगा कि अर्थ के रूप में जगत्-रूपी विवर्त ब्रह्म में ही प्रकट होता है। विवर्त का अर्थ है अतात्त्विक अन्यथाभाव अर्थात् अपने स्वरूप को वस्तुतः त्यागे बिना अन्य रूप की प्रतीति (अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा)। रस्सी में सर्प की प्रतीति और सीपी में चाँदी की प्रतीति विवर्त के सुपरिचित उदाहरण हैं। विद्वानों में इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद है कि भर्तृहरि विवर्तवादी थे या नहीं। इस मतभेद का एक प्रमुख कारण यह है कि आगे कारिका 120 में भर्तृहरि 'विवर्त' और 'परिणाम' शब्दों का प्रयोग एक साथ करते हैं -

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥

इसीलिये गौरीनाथ शास्त्री (1992: पृ. 49-50) का यह मत है कि भर्तृहरि विवर्त शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं करते जिसमें यह शांकर वेदान्त में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यदि *वाक्यपदीय* पर उपलब्ध *वृत्ति* को भर्तृहरि-कृत मानें तो यह मानना होगा कि 'विवर्त' शब्द का प्रयोग उसके पारिभाषिक अर्थ में ही हुआ है। *वृत्ति* के अनुसार, एक परम-तत्त्व द्वारा अपने स्वरूप से हटे बिना, भेद की प्रतीति कराते हुए, असत्य रूप में विभाजित अन्य वस्तु के रूपों का ग्रहण कराना ही विवर्त है - एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः (*वृत्ति*, पृ. 8-9)।

यदि ब्रह्म से पृथक् अन्य कोई वस्तु है ही नहीं तो अन्य वस्तु के रूप को ग्रहण करने का प्रश्न ही कैसा? इसीलिये *वृत्ति* में 'असत्यविभक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है और स्वप्नप्रतिभास का उदाहरण दिया गया है। अन्य रूप सत्य नहीं, अपितु प्रतीति मात्र हैं जो अविद्या के कारण होती है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में एक ही ज्ञान में अनेक पदार्थों की प्रतीति होते हुए भी यह प्रतीति सत्य नहीं क्योंकि उन पदार्थों की कोई बाह्य सत्ता नहीं है और उनसे ज्ञान का एकत्व भी बाधित नहीं होता, उसी प्रकार विविध जागतिक पदार्थ ब्रह्म की सत्ता में प्रतीत होते हुए भी उसके एकत्व को प्रभावित नहीं करते। 'विवर्त' शब्द का *वृत्ति* के अनुसार यही अर्थ है। वास्तव में ब्रह्म में न तो कोई उत्पत्ति है, न विनाश। अविद्या ही ब्रह्म में अनेक प्रकार के पदार्थों और क्रियाओं को प्रदर्शित करती है। वह ब्रह्म के साथ एकरूप नहीं है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप से उसका विरोध है। वह ब्रह्म से भिन्न भी नहीं, क्योंकि परमार्थतः ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं । इस प्रकार एक और नाना के रूप में अनिर्वचनीय यह अविद्या वस्तुतः मिथ्या है।

ब्रह्म की अव्याकृत अवस्था में सभी विकार उसमें लीन रहते हैं, उस समय उनकी पृथक् से प्रतीति नहीं होती। इसी अक्रम, अव्याकृत ब्रह्म से वे सब विकार प्रकट होते हैं जिन्हें जगत् कहा गया है। यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। शब्दब्रह्म की अद्वैत अवस्था का उल्लेख वृषभदेव ने *पद्धति* के मंगलाचरण में किया है जहाँ वे ब्रह्म को सर्वप्रपञ्चरूप भी कहते हैं। और समस्त प्रपञ्च से रहित भी-

सर्वप्रपञ्चरूपं विगताशेषप्रपञ्चजालमलम्।
जयति जगतां निमित्तं भवबन्धच्छिदि ब्रह्म॥

वृत्ति में शब्दब्रह्म के विजय में बारह कारिकाएँ उद्धृत की गई हैं। वृषभदेव इन कारिकाओं को *आगम* कहते हैं जो कारिकाओं के अर्थ के समर्थन में यहाँ उद्धृत की गई हैं। इन कारिकाओं का अर्थ साररूप में हम नीचे दे रहे हैं। (कारिकाओं के मूल पाठ के लिये देखें - *अय्यर*: 1966a: पृ.10-14)

जो समस्त परिकल्पनाओं द्वारा आभासित होने पर भी उनसे परे है, भेद-अभेद, भाव-अभाव क्रम-अक्रम, असत्य-सत्य जैसी वैचारिक कोटियों से परे है और विवेक-ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है वह प्राणियों के भीतर रहने वाला नियन्ता (अज्ञान के कारण) दूर भी है और (अपना आत्मा होने के कारण) समीप भी। मुक्ति पाने के लिये मोक्ष के इच्छुक साधकों द्वारा सभी परिच्छेदों से रहित इस ब्रह्म की उपासना की जाती है। जिस प्रकार ग्रीष्म के अन्त में वर्षा ऋतु मेघों के समूहों को एकत्र करती है उसी प्रकार वह ब्रह्म 'प्रकृति' (सांख्य में मूलप्रकृति अथवा वैशेषिक मत में परमाणु) कहलाने वाले विकारों का भी स्रष्टा है। उस ब्रह्म का चैतन्य[1] एक होते हुए भी अनेक (शरीरों एवं विषयों के) रूप में विभक्त दिखलाई देता है, वैसे ही जैसे एक समुद्र का जल तूफान में अंगारों से युक्त सा प्रतीत होता है। जैसे जाति अपने भेदों (व्यक्तियों) में रहती है ऐसे ही ब्रह्म सभी विकारों में अनुगत है। इस ब्रह्म से अन्य विकारों के प्रकृतिभूत व्यक्तिसमूह वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे मारुत नाम के वायु से वर्षा के मेघ उत्पन्न होते हैं। वह परम ज्योति उस वेद के रूप में प्रकट होती है जो भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्राप्त दृष्टिभेद का आधार है। ब्रह्म समस्त प्रपञ्च से रहित शान्त और विद्यास्वरूप है किन्तु वह विद्यास्वरूप तत्त्व (सदसद् के रूप में) अनिर्वचनीय अविद्या से आवृत सा प्रतीत होता है। इस अविद्या के कारण भासित होने वाले भाव असंख्य हैं; प्रबोध हो जाने के बाद अविद्या का अस्तित्व नहीं रहता। जिस प्रकार विशुद्ध आकाश भी तिमिररोग से ग्रस्त मनुष्य को अनेक प्रकार के विषयों से युक्त प्रतीत होता है उसी प्रकार अमृत और निर्विकार ब्रह्म भी अविद्या द्वारा मानों दूषित होकर अनेकरूप प्रतीत होता है। शब्द द्वारा निर्मित यह जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, शब्द की शक्तियाँ इसका कारण हैं। यह शब्द के अंशों से विवृत्त होता है और उन्हीं में विलीन हो जाता है।[2]

इस सम्पूर्ण व्याख्यान से स्पष्ट है कि भर्तृहरि की अवधारणा में ब्रह्म शब्दस्वरूप है और यही शब्दब्रह्म परमसत्ता है तथा एक और अद्वैत है। किन्तु शब्दब्रह्म से भर्तृहरि का तात्पर्य न तो व्यवहार में आने वाले शब्दरूपों से है, न ही ध्वनि से। लौकिक शब्दरूप तो शब्दब्रह्म के विवर्त मात्र हैं। शब्दब्रह्म उनकी प्रकृति है और स्वयंप्रकाश है। इसी के प्रकाश से वे लौकिक शब्दरूप विभिन्न पदार्थों का ज्ञान कराते हैं। ''इसीलिये उपनिषदों द्वारा ब्रह्म को शब्द से परे बतलाये जाने पर *(अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ...... क.उ., 3.15)* वैयाकरण को इस अंश की व्याख्या अपने दर्शन के अनुसार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। उसके अनुसार वहाँ '*शब्द*' का प्रयोग एक व्यावहारिक अवधारणा अर्थात् श्रोत्रग्राह्य ध्वनि अथवा नाद के लिए किया गया है। वैयाकरण का शब्दब्रह्म इससे परे है।'' (गौरीनाथ शास्त्री : 1992: पृ.1)

अब आगम प्रमाण से परमतत्त्व की एकता का प्रतिपादन करते हैं। आगे (कारिका 112 में) भर्तृहरि इसकी शब्दमयता भी आगम के अनुसार प्रमाणित करेंगे -

2. एकमेव यदाम्नातं भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥

अनु.:- जो (शब्दब्रह्म) श्रुति में एक ही कहा गया है और शक्तियों से पृथक् न होने पर भी भिन्न-भिन्न शक्तियों का आश्रय होने के कारण उनसे पृथक् सा प्रतीत होता है;

व्या.:- मूल में 1. '*भिन्नं शक्तिव्यापाश्रयात्*' और '*भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्*' ये दो पाठ मिलते हैं। यद्यपि प्रथम पाठ मानने पर उसका अन्वय प्रथम पाद (एकमेव यदाम्नातम्) के साथ सरलता से हो जाता है, फिर भी हमने द्वितीय पाठ को रखा है। क्योंकि वृषभदेव की पद्धति में इसी को मान कर व्याख्या की गई है अतः यही पाठ उचित प्रतीत होता है।

शब्दब्रह्म समस्त कार्यों और उन्हें उत्पन्न करने वाले कारणों से परे है और वे कार्य और उनके कारण एक हों या अनेक, वे अपनी मूल प्रकृति अर्थात् शब्दब्रह्म के एकत्व को प्रभावित नहीं करते। श्रुति में शब्दब्रह्म को एक बतलाने वाले अनेक उद्धरण श्रुति से दिये गये हैं - जिनसे सिद्ध होता है कि अद्वैत तत्त्व के रूप में शब्दब्रह्म की अवधारणा न केवल युक्तिसंगत है अपितु श्रुति के वचनों पर भी आधारित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है - *सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति* (ब्रह्म एक और अद्वैत द्रष्टा है)। सलिल शब्द से यहाँ सलिलवत् स्वच्छ ब्रह्म का कथन अभीष्ट है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है - *सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्* (हे सौम्य! आरम्भ में - सृष्टि के पूर्व - केवल सत् ही था, एक और अद्वैत)। इसी प्रकार कठोपनिषद् कहता है - *'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति... ओमित्येतत्'*', आदि।

ब्रह्म को एक कहने का तात्पर्य उसे 'एक' संख्या से जोड़ना नहीं अपितु भेद का निराकरण करना ही है। वृषभदेव स्पष्ट करते हैं कि व्यक्त पदार्थों का एकत्व अथवा अनेकत्व संख्या-योग के कारण है जबकि ब्रह्म का एकत्व प्राकृत एकत्व है। अर्थात् ब्रह्म स्वभावतः अद्वैत है, किसी निमित्त की अपेक्षा से नहीं। ब्रह्म को एक कहने का आशय ब्रह्म-भिन्न सत्ता का निषेध करना है। अद्वैत कहने का तात्पर्य भी मात्र द्वित्व का निषेध नहीं, अपितु यह बतलाना है कि ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ है ही नहीं।

1 यद्यपि ब्रह्म चैतन्य ही है तथापि व्यपदेशिवद्भाव से 'ब्रह्म का चैतन्य', ऐसा प्रयोग किया गया है।

2 शब्द के अंश से तात्पर्य विवर्त की अवस्था से है। परमार्थतः तो वैयाकरण का ब्रह्म एक निरंश और अद्वैत सत्ता है।

एक और अद्वैत होते हुए भी ब्रह्म में आश्रित भिन्न-भिन्न शक्तियों के कारण जगत् में भेद-व्यवहार प्रवृत्त होता है। व्यक्त जगत् के सभी पदार्थ ब्रह्म के एकत्व पर ही आधारित हैं। शक्तियाँ विभिन्न पदार्थों के रूप में अथवा उन्हें प्रस्तुत करने वाली योग्यताओं के रूप में विद्यमान हैं। परस्पर विरोधी शक्तियाँ ब्रह्म के एकत्व का अतिक्रमण किये बिना उसमें स्थित हैं। जैसा प्रथम कारिका की वृत्ति में कहा गया है (*भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिः - पृ.1*) शक्तियों से ब्रह्म का सम्बन्ध न तो भेद का है, न संसर्ग का। संसर्ग से प्राप्त एकत्व तो परवर्ती है जैसे जल और दूध का एकत्व। किन्तु ब्रह्म का एकत्व कोई परवर्ती घटना नहीं है जहाँ उससे भिन्न शक्तियाँ बाद में उसके साथ मिलकर एकीभूत हो गई हों। ये शक्तियाँ ब्रह्म की आत्मभूत ही हैं (*आत्मभूताः शक्तयः* – वृत्ति, पृ. 16; *सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः* – वा.प., 3.1.22)। आत्मभूत कहने का तात्पर्य यह है कि शक्तियों की ब्रह्म से भिन्न कोई तात्त्विक सत्ता नहीं है। इसलिये शक्तियों को ब्रह्म से अपृथक् कहा है। वृषभदेव स्पष्ट करते हैं कि शक्तियों को अनिर्वचनीय कहने के बाद भी उन्हें अपृथक् कहने का तात्पर्य ब्रह्म से उनके भेद का निषेध मात्र है। शक्तियों की अनेकता तो अविद्या अथवा सृष्टिप्रक्रिया की दृष्टि से है। पारमार्थिक दृष्टि से शक्तियाँ न तो ब्रह्म से अभिन्न हैं न भिन्न। शक्तियाँ ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म से पृथक् रूप में उनकी उपलब्धि नहीं होती। वे ब्रह्म से अभिन्न भी नहीं क्योंकि उन्हें ब्रह्म से अभिन्न मानने पर उनकी अनेकता से ब्रह्म की भी अनेकता माननी होगी। इसलिये शक्तियों को वृत्ति में अनिरुक्त और पद्धति में अनिर्वचनीय कहा है (*एकस्य हि ब्रह्मणस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिरुक्ताविरोधिशक्त्युपग्राह्यस्य...*, –वृत्ति, पृ. 21)।

एकत्व का त्याग किये बिना ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूपों की प्रतीति कैसे कराता है? इस संदर्भ में वृत्ति में ज्ञान का उदाहरण दिया गया है। विविध पदार्थों को अवभासित करने वाला ज्ञान उन पदार्थों से भिन्न नहीं है। फिर भी वे पदार्थ ज्ञान के एकत्व को प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी शक्तियाँ ब्रह्म के एकत्व से भिन्न नहीं हैं। शक्तियाँ शशविषाण की भाँति अत्यन्त असत् नहीं क्योंकि सृष्टिप्रक्रिया की दृष्टि से उनकी सत्ता माननी होगी। वे सत्य भी नहीं क्योंकि ज्ञान की दशा में उनका बाध हो जाता है। उन्हें अनिवर्चनीय कहने का यही तात्पर्य है। (इस विषय में अधिक विस्तार के लिये देखें - वीरेन्द्र शर्मा: 1977: पृ. 393-99, पृ. 411-413).

3. अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥

अनु.:- जिस (ब्रह्म) की आरोपित भेदों वाली कालशक्ति का आश्रय लेकर जन्म आदि छः विकार सत्ता के भेद के कारण बनते हैं;

व्या.:- वैशेषिक दर्शन में काल नित्य, और सभी पदार्थों के कारण, के रूप में स्वीकृत है। किन्तु अद्वैतवादी काल को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता। भर्तृहरि के मत में काल शब्दब्रह्म की एक शक्ति है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्यभूत काल नहीं है। (हेलाराज, वा. प., III.i, पृ. 44)। यह ब्रह्म की कर्तृशक्ति है और अन्य सभी शक्तियाँ इसके अधीन हैं, इसलिए इसे स्वातन्त्र्यशक्ति भी कहा गया है।

शब्दब्रह्म को महासामान्य अथवा महासत्ता भी कहा गया है। (तुलनीय – इत्थं चात्राद्वयनये परमार्थसत्यैकैव जातिर्महासत्ताख्या परब्रह्मस्वभावा, तस्या एव गोत्वादिजातिभेदेन विवर्तं व्यवहारः – हेलाराजकृत प्रकीर्णकप्रकाश, वा.प., III.i, पृ. 41)। जगत् के सभी पदार्थ इसी सत्ता के भेद हैं। स्वयं शब्दब्रह्म सत्ता के इन विविध रूपों में प्रकट होता है क्योंकि उस एक से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जगत् के सभी विकारों में वही एक सत्ता अनुस्यूत है। निरुक्तकार ने भगवान् वार्ष्यायणि के नाम से इन विकारों के छः भेदों का उल्लेख किया है - जन्म, सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश –षड् भावविकाराः भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति (*निरुक्त* I, 2.8-9)। सर्वप्रथम वस्तु जन्म ग्रहण करती है, फिर उसे सत् कहा जाता है। अवस्थित पदार्थ में परिवर्तन अवश्य होता है जिसे विपरिणाम कहा जाता है। विपरिणत होता हुआ पदार्थ यथावत् नहीं रहता अपितु वृद्धि को प्राप्त होता है; अतः हम उसे 'वर्द्धते' कहते हैं। तत्पश्चात् इसका क्षय आरम्भ होता है और फिर उसका विनाश हो जाता है। इन विकारों के प्रकटीकरण में कालशक्ति शब्दब्रह्म की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। वह इन सब विकारों को एक क्रम में प्रस्तुत करती है। पौर्वापर्य की अवधारणा के पीछे यही कालशक्ति है। इसलिए हेलाराज इसे 'क्रम' नामक शक्ति भी कहते हैं। प्रत्येक शक्ति किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने के लिए कालशक्ति पर अवलम्बित है। कालशक्ति उस शक्ति को क्रियाशील होने की अनुमति देती है अथवा उसके व्यापार को अवरुद्ध रखती है। इस प्रकार अन्य सभी शक्तियाँ कालशक्ति के अधीन हैं। सभी पदार्थ अपनी उत्पत्ति में अनेक कारणों की अपेक्षा रखते हैं। कालशक्ति उचित समय न आने तक उन कारणों के व्यापार को अवरुद्ध रखती है अथवा उनकी अवधि समाप्त होने पर उनकी सत्ता को निवृत्त करती है। यह कालशक्ति की 'प्रतिबन्ध' नामक वृत्ति है। जब कालशक्ति उन कारणों के व्यापार की अनुमति देती है तो वह 'अभ्यनुज्ञा' नामक वृत्ति है। 'प्रतिबन्ध' और 'अभ्यनुज्ञा' नामक अपनी इन दो वृत्तियों के माध्यम से कालशक्ति सभी पदार्थों में पौर्वापर्य की कारण बनती है और विकारों के परस्पर टकराव को रोकती

*- एकस्य हि ब्रह्मणस्त्वाम्नताभ्यां ·— — स्वप्नविज्ञान पुरुषवद्बहिस्तत्त्वा; परस्परविलक्षणा भोक्तृ भोक्तव्य भोगग्रहणे विवर्तन्ते।

है। इन दो वृत्तियों के बिना सृष्टि में सम्पूर्ण अव्यवस्था हो जाए। जन्म-मृत्यु, क्षय-वृद्धि, बीज-अङ्कुर, फूल-फल सब एक साथ होने लगें और पौवापर्य का सम्पूर्ण क्रम ही बिखर जाए। कालसमुद्देश (*वा.प.*, 3.9.5) में भर्तृहरि यही कहते हैं –

यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबन्धं च नोत्सृजेत्।
अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौवापर्यविनाकृताः॥

इससे यह स्पष्ट है कि सभी विकारों को काल पर आश्रित क्यों कहा गया है। न केवल सृष्टि में, अपितु स्थिति और विनाश में भी कालशक्ति का नियन्त्रण सभी पदार्थों पर बना रहता है-

उत्पत्तौ च स्थितौ चैव विनाशे चापि तद्वताम्।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम्॥ - *वा.प.*, 3.9.3

कालशक्ति पदार्थों को एक क्रम में प्रस्तुत करती है। किन्तु यह स्वयं नित्य और एकरूप है। विविधता कालशक्ति में स्वभावत: नहीं, अपितु अध्यारोपित है। क्षण, घड़ी, दिन, मास, संवत्सर जैसे भेद अथवा अतीत, वर्तमान और भविष्यत् जैसे भेद इसके आरोपित भेद मात्र हैं। वस्तुत: क्रियाओं अथवा पदार्थों में होने वाला भेद काल पर आरोपित कर दिया जाता है। क्रिया की निवृत्ति हो जाने पर कालशक्ति को अतीत कहा जाता है, जब क्रिया होनी है तो उसे भविष्यत् कह देते है, और जब क्रिया का प्रवाह बना रहता है, तो हम उसे वर्तमान कह देते हैं। प्रकृति में होने वाले क्रियाकलाप के भेद के कारण, काल को वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में विभाजित कर दिया जाता है। अपने दैनिक अनुभवों की व्याख्या के लिए इस प्रकार के भेदों की कल्पना हमारे लिए आवश्यक हो जाती है। किन्तु इन भेदों की कल्पना केवल व्यवहार के लिए है। परमार्थत: कालशक्ति एक और एकरूप है।

वा.प., I.4 की वृत्ति में और तृतीय काण्ड की हेलाराजकृत टीका में शक्तियों को अनिर्वचनीय कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि सभी शक्तियाँ मिथ्या हैं। किन्तु जब कालशक्ति को स्वातन्त्र्यशक्ति कहा जाता है तो इसका अर्थ यह है कि शब्दब्रह्म मात्र एक निष्क्रिय अधिष्ठान नहीं है। इसलिए गौरीनाथ शास्त्री कहते हैं कि कालशक्ति एवं अन्य शक्तियाँ मिथ्या नहीं हैं जैसा शांकर वेदान्त में माना गया है। वे शब्दब्रह्म की स्वरूपभूत हैं। (शब्दब्रह्म, कालशक्ति और अन्य सभी शक्तियाँ तत्त्वत: अभिन्न हैं। मात्र उनके बीच का भेद मिथ्या है। गौरीनाथ शास्त्री इस संदर्भ में भर्तृहरि के सिद्धान्त को कश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन के समकक्ष मानते हैं (1992: पृ.12-17) जहाँ शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना गया है वैसे ही जैसे अग्नि और उसका दाहकत्व अभिन्न हैं।)

4. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

अनु.:- जो (ब्रह्म) एक है, सभी का बीज है और भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में जिसकी यह स्थिति है;

व्या.:- ब्रह्म सभी पदार्थों का कारण होने के साथ सभी व्यवहार का भी कारण है, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं अपितु भेदों का कारण भी वही है, यह इस कारिका से बतलाया गया है। जिस प्रकार फल-फूल, शाखा-प्रशाखा आदि से युक्त विविधतापूर्ण वृक्ष का उद्गम बीज है, उसी प्रकार विविधतापूर्ण इस जगत् का उद्गम ब्रह्म ही है। परस्पर विरोधी पदार्थों को उत्पन्न करने वाली सभी शक्तियाँ शब्दब्रह्म में एक साथ रहती हैं। भर्तृहरि के दर्शन में ब्रह्म एक ही है। शक्तियों की अनेकता उसके एकत्व को प्रभावित नहीं करती क्योंकि ब्रह्म से भिन्न उनकी कोई सत्ता नहीं है (सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः - *वा.प.*, 3.1.22)। वह एक शब्दब्रह्म ही अनेकविध सृष्टि के रूप में भासित होता है। भोक्ता अर्थात् भोग का कर्ता, भोग्य विषय और स्वयं भोग की क्रिया, इन सभी रूपों में शब्दब्रह्म ही अपने आपको परिणत करता है। स्वप्न में पुरुष विविध प्रकार की सृष्टि को देखता है। जागने पर वह सब, कुछ भी दिखाई नहीं देता। इससे स्पष्ट है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने विज्ञान को ही इन सब रूपों में देखता है। स्वयं को, दूसरों को, प्रिय-अप्रिय को देखने वाला वही विज्ञानपुरुष है। इसी प्रकार न केवल भोक्ता जीव, अपितु भोग्य और भोग सब उसी शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति है।* इसके अतिरिक्त भी शब्दब्रह्म में प्रकाशक-प्रकाश्य, कारण-कार्य, वाचक-वाच्य आदि अनेक रूपों में स्वयं को व्यक्त करने की सामर्थ्य है –

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ *वा.प.*, 2.32

इसी प्रकार द्रव्यसमुद्देश (तृतीय काण्ड) में भर्तृहरि कहते हैं कि वही एक सत्ता शब्द, अर्थ एवं उनके सम्बन्ध के रूप में दिखलाई देती है; वही द्रष्टा है, दृश्य है, दर्शन की क्रिया है और दर्शन का प्रयोजन भी वही है -

तस्य शब्दार्थसंबन्धरूपमेकस्य दृश्यते।
तद् दृश्यं दर्शनं द्रष्टा दर्शने च प्रयोजनम्॥ *वा.प.*, 3.2.14.

इस प्रकार, भर्तृहरि का शब्दब्रह्म भी वेदान्तियों के ब्रह्म की भाँति न केवल जगत् का निमित्त कारण है अपितु इसका उपादानकारण भी है।

5. प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक्॥

अनु.:- उस (ब्रह्म) की प्राप्ति का उपाय एवं उसकी अनुकृति वेद है जो एक होने पर भी मानो अनेक भेदों से युक्त होकर महर्षियों द्वारा पृथक्-पृथक् पठित हुआ है।

व्या.:- चार कारिकाओं में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के उपरान्त अब ब्रह्मप्राप्ति का उपाय बतलाया जा रहा है। भर्तृहरि के मत में वेद ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है क्योंकि वह ब्रह्म की अनुकृति भी है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सूक्ष्म, नित्य, इन्द्रियातीत, अक्रम वाक् का साक्षात् दर्शन प्राप्त किया और परवर्ती ऋषियों को उसका ज्ञान देने के लिए उसका उपदेश उसके प्रतीक के माध्यम से किया। इन परवर्ती ऋषियों ने भी अगली पीढ़ियों के लिए उसको अनेक रूपों में बाँटकर वेद और वेदाङ्गों का उपदेश किया। क्योंकि एक तत्त्व का प्रतिपादन दूसरे व्यक्ति के लिए वाणी के माध्यम से ही संभव है, अतः ऋषियों ने क्रमयुक्त ध्वनियों के द्वारा उसे परवर्ती पीढ़ियों को प्रदान किया जैसा कि निरुक्तकार ने कहा है - *साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः* (*निरुक्त*, 1.20)।

निरुक्तकार के अनुसार यजुर्वेद की एक सौ, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की इक्कीस और अथर्ववेद की नौ शाखाएँ प्रचलित थीं। इस प्रकार एक ही वेद के अनेक भेदों की कल्पना के कारण मूल में इसे 'अनेकवर्त्मा इव' कहा गया है। किन्तु जिस प्रकार क्रमबद्ध ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त पद का एकत्व बाधित नहीं होता इसी प्रकार संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ के रूप में अथवा अनेक भेदों एवं शाखाओं के रूप में विभाजित होने पर भी वेद के एकत्व का अतिक्रमण नहीं होता।

इस प्रकार शब्दब्रह्म की प्रतिकृति होने के कारण वेद ही उस क्रमरहित ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। वृत्ति में दिये गए एक उद्धरण में कहा भी गया है कि वेद के अभ्यास से अपार अन्धकार के नष्ट होने पर वह उत्तम, आन्तरिक, अजर, उज्ज्वल ज्योति इसी जन्म में प्रकाशित हो उठती है – *वेदाभ्यासात् वरमान्तरं शुक्लमजरं ज्योतिरस्मिन्नेवापारे तमसि वीते विवर्तते* (*वा.प.*, I, पृ. 24)। इस ज्योति का साक्षात्कार ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

6. भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता।
शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते।

अनु. :- उस वेद के भेदों के अनेक मार्ग हैं किन्तु वे एक ही कर्म के प्रति अङ्गभूत हैं। उसकी शाखाओं में शब्दों की नियत शक्ति पाई जाती है।

व्या. :- वेद के मुख्यतः चार भेद हैं और फिर उनमें भी प्रत्येक की अनेक शाखाएँ हैं जिनकी चर्चा हमने पिछली कारिका की व्याख्या में की। इस प्रकार प्रत्येक वेद अनेक मार्गों वाला है। किन्तु वे सभी शाखाएँ एक ही यज्ञकर्म के प्रति अङ्गभूत हैं। शाखाओं का भेद होते हुए भी उनके द्वारा प्रतिपाद्य ज्योतिष्टोम याग आदि कर्म एक ही है। यदि उस कर्मविशेष के कुछ अङ्ग उस शाखा में निर्दिष्ट नहीं हैं तो अन्य शाखाओं के अनुसार उन्हें पूरा किया जा सकता है। *मीमांसासूत्र* 2.4.8 में पूर्वपक्षी का कथन है कि विभिन्न शाखाओं में निर्दिष्ट कर्म के संदर्भ में शाखाओं के नाम, कर्म की प्रक्रिया आदि में भेद होने के कारण प्रत्येक शाखा में निर्दिष्ट कर्म को भिन्न मानना चाहिये। इसके उत्तर में *मीमांसासूत्र* 2.4.9 से 2.4.32 तक के विवेचन में निर्णय दिया गया है कि कतिपय भेदों के बावजूद एक नाम (जैसे ज्योतिष्टोम) से उल्लिखित कर्म एक ही है। शाखाभेद से वह कर्म भिन्न नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि अनेक भेदों के होते हुए भी वेद का एकत्व बाधित नहीं होता।

प्रत्येक शाखा में शब्दों की शक्ति भी नियत है। किसी विशेष शाखा में कोई शब्द जिस रूप और जिस स्वर से युक्त होकर पढ़ा गया है उस रूप में वह उसी शाखा में अर्थ का प्रत्यायक बनता है तथा अभ्युदय और निःश्रेयस का कारण बनता है। उदाहरण के लिए, *अष्टा.* 7.4.38 'देव- सुम्नयोर्यजुषि काठके' के अनुसार यजुर्वेद की काठक शाखा में क्यच् प्रत्यय पर होने पर 'देव' और 'सुम्न' शब्दों को आकार अन्तादेश होता है। *काठक संहिता* 2.9 में 'देवायते यजमानाय' और *काठक संहिता* 8.17 में 'सुम्नायन्तो हवामहे' जैसे प्रयोग इस सूत्र के उदाहरण हैं। वृषभदेव कहते हैं कि ये रूप *काठक संहिता* में ही साधु हैं, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार शब्दों की शक्ति शाखाविशेष के संदर्भ में ही नियत है।[1]

---

1 'सुम्नायन्तो हवामहे' काठक संहिता के अलावा ऋग्वेद 8.7.11, तैत्तिरीय संहिता 1.5.11.4 आदि में भी उपलब्ध होता है। संभवतः इसीलिये हरदत्त (पदमञ्जरी, 7.4.38) कहते हैं कि यह ऋचा यदि काठक संहिता में है तो ऋग्वेद में भी आकार अन्तादेश हो जाता है। भट्टोजि दीक्षित भी सिद्धान्तकौमुदी (3591) में यही कहते हैं– *''इह यजुःशब्दो न मन्त्रमात्रपरः किं तु वेदोपलक्षकः। तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति। किं च ऋग्वेदेऽपि भवति स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः।''*

7\. स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः॥

अनु.:- दृष्ट और अदृष्ट फल वाली अनेकविध स्मृतियाँ उस वेद के आधार पर ही वेदज्ञ ऋषियों द्वारा संकेतों की सहायता से रची गई हैं।

व्या.:- इस कारिका में भर्तृहरि बतलाते हैं कि स्मृतियाँ भी वेद की परम्परा का विस्तार हैं और वेद पर आधारित होने के कारण ही प्रामाणिक हैं। वेद अथवा श्रुति स्वतःप्रमाण है किन्तु स्मृतियाँ वेदमूलक होने के कारण प्रमाण हैं। ब्रह्मसूत्र 2.1.1 पर भाष्य में शंकराचार्य भी कहते हैं कि वेद के प्रामाण्य को किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है जैसे रूप को प्रकाशित करने के लिए सूर्य के प्रकाश को किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं – *''वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।''*

वेद में उपलब्ध लिङ्गों (संकेतों) के आधार पर वेद के मर्म को समझने वाले ऋषियों द्वारा इन स्मृतियों की रचना की जाती है और तदनुसार धर्म आदि के विषय में विधि-निषेधों का विधान किया जाता है। उदाहरण के लिए, 'अष्टकाः कर्तव्याः' इस स्मृति वचन का संकेतक –

''यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥
अष्टकायै राधसे स्वाहा।''

यह श्रुतिवचन है जिसमें अष्टका की प्रशंसा के माध्यम से अष्टकाश्राद्ध करने का संकेत दिया गया है। जैसे अनुमान प्रत्यक्ष में उपलब्ध लिङ्गों अथवा हेतुओं पर आधारित है वैसे ही स्मृतियाँ वेद पर आधारित हैं। इसीलिए ब्रह्मसूत्र 1.3.28 पर भाष्य में शंकर प्रत्यक्ष और अनुमान का अर्थ क्रमशः श्रुति और स्मृति करते हैं – *'प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्, अनुमानं स्मृतिः प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्।'*

स्मृतियों को 'बहुरूपाः' इसलिए कहा है क्योंकि ये स्मृतियाँ अनेक प्रकार की हैं। कुछ वेद के शब्दों पर आधारित हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिनके आधारभूत वैदिक वाक्य उपलब्ध नहीं होते। ये स्मृतियाँ शिष्टजनों के आचरण से जानी जाती हैं; जैसे, ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण का विधान शिष्टपरम्परा से अनुमोदित होने के कारण प्रामाणिक माना जाता है। दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन के भेद से भी स्मृतियाँ दो प्रकार की कही जा सकती हैं। कुछ स्मृतियों का प्रयोजन प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे, चरक, सुश्रुत आदि द्वारा प्रणीत चिकित्साधिषयक स्मृतियाँ अथवा शुक्र, बृहस्पति आदि की नीतिशास्त्रविषयक स्मृतियाँ। कौन सा पदार्थ भक्ष्य है और कौन सा नहीं, किस कुल-गोत्र की कन्या से विवाह करना चाहिए और किससे नहीं, अमुक कर्म करणीय है अमुक नहीं, इस प्रकार की अनेक स्मृतियों का प्रत्यक्षतः कोई प्रयोजन दिखलाई नहीं देता। फिर भी उनके विधि-निषेध की प्रामाणिकता यह मानकर स्वीकार की जाती है कि इनका कोई अदृष्ट फल है जो इस लोक में अथवा परलोक में आगे चल कर मिलेगा।

जहाँ स्मृति के समर्थन में प्रत्यक्षतः कोई श्रुति उपलब्ध न हो वहाँ भी यह माना जाता है कि जिस प्रकार अन्य स्मृतियाँ – जिनके लिए श्रुति का आधार उपलब्ध है – प्रामाणिक हैं, उसी प्रकार अनुपलब्ध श्रुति वाली स्मृति भी प्रामाणिक है। अन्तर केवल इतना है कि काल के प्रवाह में उसकी आधारभूत श्रुति लुप्त हो चुकी है अथवा वर्तमान में मनुष्यों को उसका ज्ञान नहीं है। *तन्त्रवार्तिक* में कुमारिल उन कारणों को स्पष्ट करते हैं जिनके चलते किसी स्मृति-विशेष का मूल उपलब्ध नहीं होता–

शाखानां विप्रकीर्णत्वात्पुरुषाणां प्रमादतः।
नानाप्रकरणस्थत्वात्स्मृतेर्मूलं न दृश्यते॥ – *मीमांसासूत्र* 1.3.2 पर *त.वा.*

किन्तु ऐसी स्मृति किसी प्रत्यक्ष श्रुति द्वारा बाधित न होने पर ही प्रमाण होगी, अन्यथा उसे प्रमाण नहीं माना जाएगा। *मीमांसासूत्र* 1.3.3 (विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्) में जैमिनि यही कहते हैं कि यदि श्रुति और स्मृति में विरोध हो तो स्मृति उपेक्षणीय है क्योंकि विरोध न होने पर ही उसकी मूलभूत श्रुति का अनुमान किया जा सकता है। इसीलिए सांख्य एवं पाञ्चरात्र आदि दर्शनों (जिन्हें स्मृति के अन्तर्गत रखा जाता है) की कुछ मान्यताओं का खण्डन करते हुए शंकराचार्य का मुख्य तर्क यह है कि वे वेदविरुद्ध हैं और जहाँ स्मृतियों में विरोध हो वहाँ श्रुति की अनुसारिणी स्मृतियाँ प्रमाण होंगी, अन्य नहीं – विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनां ... श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्, अनपेक्ष्या इतराः (*ब्रह्मसूत्र*, 2.1.1 पर *शांकरभाष्य*)।

यदि श्रुति का प्रमाण न मिले और दो स्मृतियों में परस्पर विरोध दिखलाई पड़े तो ऐसे स्थलों में विकल्प समझना चाहिए। किन्तु दो परस्पर विरोधी स्मृतियों में जहाँ शिष्ट आचरण से विरोध दिखलाई पड़े वहाँ दृष्ट फल वाली स्मृति अप्रमाण होगी क्योंकि संभव है, किसी स्वार्थविशेष के कारण ऐसी स्मृति का प्रक्षेप कर दिया गया हो।

8. तस्यार्थवादरूपाणि निश्चिताः स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः॥

अनु.:- अद्वैतवादियों एवं द्वैतवादियों के अपनी-अपनी बुद्धि से उत्पन्न अनेक प्रकार के वाद उस वेद के अर्थवाद एवं तत्सदृश वाक्यों पर आधारित हैं।

व्या.:- 'अर्थवादरूपाणि' शब्द, वृषभदेव के अनुसार, द्वितीयान्त एकशेष है जिसका अर्थ है 'अर्थवादान् अर्थवादरूपाणि च', अर्थात् अर्थवाद और अर्थवाद जैसे ही अन्य वाक्य। *अष्टा.* 7.4.82 'गुणो यङ्लुकोः' में भी इसी प्रकार का एकशेष है जिसका अर्थ है : 'यङि यङ्लुकि च'। वेद में प्रतिपादित विधि की प्रशंसा एवं निषिद्ध कर्म की निन्दा में फलित होने वाले वाक्य अर्थवाद कहलाते हैं - प्राशस्त्य-निन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः (*अर्थसंग्रह*)। मीमांसकों के मत में ये वाक्य विधि और निषेध के प्रति गौण हैं और इनकी सार्थकता इसी में है कि ये मनुष्य को वेद में प्रतिपादित विधि के प्रति प्रवृत्त और निषिद्ध कर्म से निवृत्त करते हैं। उनके मत में वेद का तात्पर्य मुख्यतः क्रियापरक है। अतः जो वाक्य मात्र किसी सिद्ध तथ्य का कथन करते हैं, साध्य कर्म का नहीं, वे लक्षणा द्वारा विधेय कर्म की प्रशंसा अथवा निषिद्ध कर्म की निन्दा में फलित होते हैं। इस प्रकार के अधिसंख्य वाक्य मीमांसकों द्वारा अर्थवाद की श्रेणी में रखे जाते हैं। जैसे '*वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता*', यह वाक्य बतलाता है कि क्षिप्रगामी देवता होने के कारण वायु तुरन्त फल प्रदान करता है। इस प्रकार यह वाक्य वायव्य याग की प्रशंसा करते हुए यजमान को उसे करने के लिए प्रेरित करता है। कुछ वाक्यों का इस प्रकार का कोई प्रयोजन न होने पर भी ये वाक्य देवता के स्वरूपमात्र का कथन करते हैं। इन्हें अर्थवादरूप अर्थात् अर्थवादसदृश वाक्य कहा गया है।

भर्तृहरि कहते हैं कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक संप्रदायों का उद्‌भव इन्हीं अर्थवाद वाक्यों और अर्थवादसदृश वाक्यों की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं से हुआ है और यह भिन्नता उन संप्रदायों के प्रवर्तकों की अलग-अलग समझ से उत्पन्न हुई है। एक ही वाक्य को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न रीति से समझते हैं। इस संदर्भ में कुछ उदाहरण *वृत्ति* में दिये गये हैं। *शतपथब्राह्मण* में एक वाक्य मिलता है जिसका विनियोग अग्निचयन के स्थान की स्तुति में किया जाना है - असद्वा इदमग्र आसीत् (प्रारम्भ में यह असत् था)। इस वाक्य के आधार पर अद्वैतवादी यह निष्कर्ष निकालते हैं - असत्, निष्क्रिय, निर्गुण, अशब्द और निःस्वरूप (ब्रह्म) से असत्, निष्क्रिय, निर्गुण, अशब्द और निःस्वरूप (जगत्) उत्पन्न हुआ। जगत् केवल कल्पित (असत्) है क्योंकि अद्वय ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। और ब्रह्म असत् है क्योंकि उसमें जगत् की सत्ता का आवेश नहीं है।

ऋग्वेद के नासदीयसूक्त (10.129) में यह मन्त्र मिलता है - '*नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्*' (तब न सत् था न असत्)। इसी सूक्त में आगे चलकर कहा गया है - तम आसीत्तमसा गूढमग्रे। अद्वैतवादी व्याख्या के अनुसार ब्रह्म अविवृत्त अवस्था में सत् नहीं था क्योंकि उसको सत् कहकर उसका निर्वचन संभव नहीं। तथापि वह शशविषाण की भाँति सर्वथा असत् भी नहीं था। यहाँ तम का अर्थ अज्ञान है। इस अर्थवादवाक्य से ही निम्नलिखित दर्शन उद्‌भूत हुआ है जिसके अनुसार जगत् फेन और बुदबुद के समान अस्तित्वहीन है, केवल माया है, तम अर्थात् अज्ञान की सृष्टि है जिसे ज्ञानी पुरुष पहचानता है -

इदं फेनो न कश्चिद्वा बुद्‌बुदो वा न कश्चन।
मायेयं बत दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति॥

इसी प्रकार द्वैतवादी दर्शन भी श्रुतिवाक्यों को आधार बनाते हैं। *वृत्ति* ने ऋग्वेद (1.164.20) का एक मन्त्र प्रस्तुत करते हुए उसकी दो प्रकार की व्याख्याओं को प्रस्तुत किया है -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।

द्वैतियों के मत में ये दो पक्षी हैं - *इन्द्रियसमूह* और *अन्तर्यामी*, *अथवा बुद्धि* और क्षेत्रज्ञ (पुरुष)। उनके अनुसार सभी पदार्थों के कारणभूत तत्त्व *नित्य* और *अनित्य* दो प्रकार के हैं जिनमें यह संपूर्ण जगत् आश्रित है। अन्य दार्शनिकों के अनुसार यहाँ तात्पर्य ईश्वर और जीव से है। अद्वैतवादियों के मत में यहाँ एक ही अद्वैत चैतन्य की *विवृत्त* और *अविवृत* अवस्था अभिप्रेत है। अद्वैत तत्त्व का समर्थन *ईशोपनिषद्* के निम्नलिखित मन्त्र से भी होता है -

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

[वह चलता है और नहीं चलता; वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्दर है और वही इस सबके बाहर है।]

सांख्य मत वाले प्रकृति या प्रधान को पुरुष से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं। वे *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (4.5) के निम्नलिखित मन्त्र को अपने समर्थन में उद्धृत करते हैं -

अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

सांख्यों के मत में यहाँ लोहित, कृष्ण और शुक्ल क्रमशः रजस, तमस् और सत्त्व के वाचक हैं। अजा से तात्पर्य है 'जो उत्पन्न नहीं होती'। इस प्रकार सांख्योक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही उल्लेख यहाँ किया जा रहा है जो अपने समान ही सुख-दुःख और मोहरूप त्रिगुणात्मिका सृष्टि को उत्पन्न करती है। इस प्रकार सांख्य में प्रधान या प्रकृति की कल्पना श्रुतिमूलिका है। किन्तु वेदान्तमत के अनुसार यहाँ परमेश्वर की बहुरूपा शक्ति का उल्लेख है जिसके लिए 'अजा' के रूपक का प्रयोग किया गया है और जिसका उल्लेख 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (*श्वेताश्वर उप.* 4.10) कहकर आगे भी किया गया है (देखें, *ब्रह्मसूत्र* 1.4. 8-10 पर *शंकरभाष्य*)।

इस प्रकार विभिन्न दर्शन वेद के अर्थवाद और तत्सदृश वाक्यों पर आधारित हैं। परमतत्त्व के विजय में मानवीय चिन्तन एवं विमर्श की सभी संभावनाएँ, भर्तृहरि के अनुसार, वेद में निहित हैं। कुमारिल भी (*तन्त्रवार्तिक*, पृ. 81, *मी.सू.* 1.3.2) कहते हैं कि विज्ञानवाद, क्षणभङ्गवाद और नैरात्म्यवाद जैसे दर्शनों का मूल भी उपनिषदों के अर्थवाद-वाक्यों में खोजा जा सकता है – *विज्ञानमात्र-क्षणभङ्गनैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्वम् ...।*

9. सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी॥

अनु.:- उस वेद में समस्त वादों के अविरोधी प्रणवरूप से युक्त सत्य एवं शुद्धत्व का कथन किया गया है जो एक पद (ओंकार) से प्राप्य है एवं विद्या-स्वरूप ही है।

व्या.:- यहाँ जिस सत्य एवं विशुद्धि का कथन किया जा रहा है, वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप है; उसे ही *शुद्धविद्या* भी कहा गया है। एक पद अर्थात् ओंकार उस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है जैसा कि *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा है : *ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।* कठोपनिषद् में प्रणव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, जिसको समस्त तपों के रूप में कहा गया है, जिसको पाने के लिए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद संक्षेप में ओम् है-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

वहीं यह भी कहा गया है कि इस अक्षर को जानकर व्यक्ति अपना इच्छित लक्ष्य प्राप्त कर लेता है-

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

क्योंकि सभी वेदों के रूप में यही प्रणव अभिव्यक्त हुआ है अतः *वृत्ति* में इसे सर्वश्रुतिरूप कहा गया है। सभी दर्शन इसी से उद्भूत होते हैं और इसी में विलीन होते हैं। परमाणुवादी वैशेषिक परमाणु को समस्त कार्यों की प्रकृति मानते हैं जबकि सांख्यदर्शन में प्रधान प्रकृति को मूल कारण माना गया है। अद्वैतवादी के मत में ये सभी कारण प्रणव से भिन्न नहीं हैं, अतः इसे *वृत्ति* में *प्रकृतिसर्वनाम* कहा गया है और मूल कारिका में सभी वादों का अविरोधी कहा गया है। अद्वैतवादी के मत में सभी दर्शनों का समावेश अद्वैतवाद में हो जाता है क्योंकि अन्य दर्शन जो कुछ भी कहते हैं वह उसी ब्रह्म के बारे में है। कोई भी पदार्थ ब्रह्म की सर्वरूपता से परे नहीं है, न ही कोई पदार्थ ब्रह्म से भिन्न है *(प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्पश्च - वृत्ति, पृ. 36)।* इसलिए सभी दर्शन जो कुछ भी कहते हैं वह उसी ब्रह्म के विजय में है। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ है ही नहीं, अतः कोई भी विकल्प उससे विरुद्ध नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवाद किसी भी मत का विरोधी नहीं है।

10. विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः॥

अनु:- लोकों के विधाता उस वेद के *अङ्गों* और *उपाङ्गों* से ज्ञान एवं संस्कार की हेतुभूत विद्याएँ प्रवृत्त होती हैं।

व्या:- 'ज्ञानसंस्कारहेतवः' में हमने 'ज्ञानसंस्कार' को द्वन्द्व समास मानकर अनुवाद किया है। यदि षष्ठी-समास मानें तो 'ज्ञान के संस्कार की हेतुभूत', ऐसा अनुवाद भी किया जा सकता है।

वृत्ति के अनुसार वेद जगत् की प्रकृति भी है और उपदेष्टा होने के कारण व्यवस्थापक भी। कुछ विद्वान् प्रणव को ही वेद मानकर उसी से शब्दरूप और अर्थरूप समस्त जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। इस दृष्टि से जगत् में प्रतीयमान सभी विवर्तों की प्रकृति होने के कारण वेद जगत् का विधाता अर्थात् स्रष्टा है। जिस प्रकार घट आदि विकार अपनी प्रकृति मिट्टी से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार सभी शब्द एवम् अर्थ अपनी प्रकृति से भिन्न नहीं। उपनिषद् में कहा गया है- *ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् (माण्डूक्य उपनिषद्)।* अतः समस्त

विद्याएँ उस प्रणवरूप प्रकृति से अभिन्न और उसमें अन्तर्भूत हैं। इसीलिए कहा गया है- ''*सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः*।'' अर्थात् सभी शब्द वेद में समाविष्ट हैं।

सभी व्यवस्थाओं का जनक होने के कारण भी वेद व्यवस्थापक के रूप में जगत् का विधाता है क्योंकि विधि (अर्थात् ब्राह्मण अथवा विधायक वाक्य), विधेय (अर्थात् *मन्त्रभाग*) और तर्क (यहाँ तर्क से कुछ आचार्य उपनिषद् अर्थ लेते हैं[1] और कुछ *मीमांसा*[2]), ये तीनों वेद हैं। भर्तृहरि वैदिक परम्परा के प्रबल समर्थक हैं और मानते हैं कि वेद से ही समस्त सृष्टि उत्पन्न भी होती है और संचालित भी। समस्त विद्याएँ वेद के अङ्गों और उपाङ्गों से उत्पन्न हुई हैं। *मनुस्मृति* के अनुसार विधाता ने वेद के शब्दों से सभी नाम, कर्म और संस्थाओं की रचना की-

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥[3]

किन्तु *भर्तृहरि* स्वयं वेद को ही विधाता कहते हैं। ब्रह्मकाण्ड की कारिकाओं से स्पष्ट है कि वेद के प्रति भर्तृहरि की निष्ठा इतनी गहरी है जो संभवतः अन्य किसी चिन्तक में नहीं मिल सकती। वेद स्वयं ब्रह्म का प्रतीक है और उसकी विभिन्न शाखाएँ ब्रह्म का विवर्त।

वेद के छः अङ्ग प्रसिद्ध हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र उपाङ्ग कहे गए हैं। वृषभदेव के अनुसार व्याकरण आदि स्मृतियाँ अङ्ग हैं और आयुर्वेद आदि उपाङ्ग हैं। इस प्रकार वेद और उसके अङ्गों-उपाङ्गों से वे सभी विद्याएँ उत्पन्न होती हैं जो मनुष्य को ज्ञान प्रदान करती हैं और संस्कारित करती हैं। इस प्रकार भर्तृहरि के मत में वेद न केवल ज्ञान-परम्परा का, अपितु समाज और संस्कृति का भी आधार है।

11. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥

अनुः- उस ब्रह्म (वेद) के निकटतम, तपों में उत्तम तपरूप व्याकरण को विद्वानों ने वेद का प्रथम अंग कहा है।

व्याः- ब्रह्म का अर्थ यहाँ वेद से है जिसे भर्तृहरि शब्दरूप में ब्रह्म की अनुकृति बतला चुके हैं। व्याकरण वेद का निकटतम है क्योंकि यह वेद के स्वरूप को प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा समझने का प्रयास करता है और इस प्रकार शब्द के साधुत्व का प्रतिपादन भी करता है। इसके अतिरिक्त '*ऊह*' के द्वारा यह आवश्यक मन्त्रों की प्राप्ति भी कराता है। जैसा *महाभाष्य* के पस्पशाह्निक में स्पष्ट किया गया है, वेद के मन्त्र सभी लिङ्गों और विभक्तियों में पठित नहीं हैं। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार उनमें यथोचित परिवर्तन करना पड़ता है। *तैत्तिरीय संहिता* 1.1.5 में मन्त्र है -'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि।' अब, सौर्य याग में सूर्य को चरु की आहुति देते समय कौन सा मन्त्र पढ़ना है इस विषय में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है। सौर्य याग विकृतियाग है और अग्नि-याग प्रकृति। अतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस मीमांसा-न्याय के अनुसार अग्निविजयक मन्त्र को ही यथोचित परिवर्तन के साथ इस प्रकार बोलना होगा- 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि।' शब्द तथा विभक्ति, लिङ्ग, वचन के इस परिवर्तन को '*ऊह*' कहते हैं। *महाभाष्यदीपिका* (पृ. 5) में भर्तृहरि ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है- ''*प्रकृतौ समर्थानां विकारेषु सामर्थ्याभावः। प्रकृतिरुपादानार्थं प्रसक्ते शब्दलिङ्गवचनान्तरेण विक्रियते*।'' अर्थात् ''प्रकृतियाग में जिन शब्दों में सामर्थ्य है, उनका प्रयोग विकृतियाग में नहीं हो सकता। अतः जिस अर्थ (विकृतियाग) को लेकर याग किया जाता है उसमें शब्द, लिङ्ग अथवा वचन को परिवर्तित कर प्रकृति में ही परिवर्तन कर दिया जाता है।'' कहाँ ऊह करना है और कहाँ नहीं, यह निर्णय मीमांसाशास्त्र का विषय है। ऊह के बाद सही रूप का निर्धारण करते हुए मन्त्र के स्वरूप का ज्ञान कराना व्याकरण का कार्य है। इस प्रकार स्वरूपज्ञान कराने के कारण व्याकरण वेद का साक्षात् उपकारक है और इसलिए इसे वेद का निकटतम कहा गया है।

जितने भी तप एवं स्वाध्याय हैं उनमें व्याकरण पवित्रतम कहा गया है क्योंकि यह शब्द के स्वरूप और अर्थ का ज्ञान कराकर दृष्ट फल प्रदान करता है और साधु शब्द के प्रयोग को बतलाकर मनुष्य को संस्कारित करते हुए उसे मोक्षप्राप्ति की ओर भी ले जाता है। व्याकरण में उपदिष्ट अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान मात्र से वेद के समस्त पुण्यफल की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रत्याहाराह्निक के अन्त में महाभाष्यकार का वचन है। फिर संपूर्ण व्याकरण का अध्ययन कितना पवित्र तप है, यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। महाभाष्यकार ने यह भी बतलाया है कि व्याकरण सभी अङ्गों में प्रधान है -'*प्रधानं चषट्स्वङ्गेषु व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति*।' अन्यत्र भी कहा गया है - '*मुखं व्याकरणं स्मृतम्*'। इसलिए भर्तृहरि यहाँ विद्वानों अथवा शिष्टों के प्रामाण्य पर व्याकरण को वेद का प्रथम अंग कहते हैं।

---

1 देखें, कुमारिल के *तन्त्रवार्तिक* पर सोमेश्वरकृत *न्यायसुधा*, पृ. 1169.

2 *पद्धति*, पृ. 38.

3 *मनुस्मृति*, 1.21 मनु. 12.94-99 भी द्रष्टव्य है।

12. प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥

अनु:- विविध रूप में विभाजित वाणी के उत्कृष्ट रस, उस पवित्रतम ज्योति, की प्राप्ति का यह (व्याकरण) सरल मार्ग है।

व्या.:- अन्तश्चैतन्य में विद्यमान शब्दतत्त्व एक और अक्रम है। वही शब्द जब व्यक्त वाक् के रूप में प्रकट होता है तो वर्ण, पद, वाक्य आदि के भेद से अथवा स्थान, करण आदि के भेद से उसके अनेक विभाग प्रकट होते हैं। वही शब्द विभिन्न पदार्थों के रूप में भासित होता है और फिर वे पदार्थ वक्ता के संबन्ध से शब्दों के रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार विविध रूपों में अभिव्यक्त वाक् का परम सार साधुशब्द हैं। वृत्ति में उद्धृत एक उक्ति के अनुसार संस्कारहीन अशुद्ध शब्द रसहीन एवं निस्सार (ऋजीष) हैं– ''*ऋजीषमेतद्वाचो यः संस्कारहीनः शब्दः।*'' इन साधु शब्दों के ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ उपाय व्याकरण ही है। *महाभाष्य* के पस्पशाह्निक में यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया गया है कि साक्षात् बृहस्पति गुरु हों और इन्द्र जैसा शिष्य, तब भी शब्दों के परिगणन द्वारा उनकी साधुता का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए उत्सर्ग और अपवाद, संज्ञा, विधि एवं नियम, निपातन, अतिदेश आदि विधियों के माध्यम से व्याकरण ही साधु शब्दों का ज्ञान कराने में समर्थ है। अनेक शब्दों की सिद्धि शिष्टजनों के प्रयोग के आधार पर होती है। इन शिष्टों के ज्ञान के लिए भी व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। व्याकरण का ज्ञाता यह जान सकता है कि अमुक व्यक्ति स्वभावतः ही निरपभ्रंश शब्दों का प्रयोग करते हैं, अतः वे शिष्ट हैं। इसीलिए *महाभाष्यकार* (*अष्टाध्यायी* 6.3.109 पर) कहते हैं – ''*शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी।*'' वृत्ति में किसी प्राचीन ग्रन्थ को उद्धृत किया गया है जिसमें तीन प्रकार के प्रकाश का उल्लेख है। विभिन्न भौतिक प्रकाश, जैसे अग्नि, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र आदि प्रथम प्रकार के प्रकाश हैं। दूसरा प्रकाश बुद्धि का प्रकाश है जो घट आदि पदार्थों को प्रकाशित करता है। तीसरा प्रकाश शब्द है जो इन प्रकाशों का भी प्रकाशक है और जिसमें स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थ संनिहित हैं– ''*इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः ... योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेऽन्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च।*'' साधु शब्दों के उपदेश द्वारा बुद्धि को संस्कारित करके और प्रक्रियाओं के बहुत्व की मिथ्यता बतलाकर व्याकरण इस पवित्र ज्योति के साक्षात्कार का साधन बनता है।

पाठ - 3

कारिका 13 - 26

13. अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते।।

अनु.:- अर्थ के प्रयोग के तत्त्व शब्दों पर ही आश्रित हैं और शब्दों के तत्त्व का ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता।

व्या.:- अर्थ की प्रवृत्ति से तात्पर्य है, अर्थ का व्यवहार। अर्थ का व्यापार विवक्षा के अधीन है। जब वक्ता बुद्धि में स्थित किसी अर्थ को व्यवहार में लाना चाहता है तो वह शब्दों द्वारा ही उसे दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित करता है। बिना इस संप्रेषण के कोई भी पदार्थ – चाहे बाह्य रूप में उसकी सत्ता हो या न हो – व्यवहार का विषय नहीं बनता। इसलिए विवक्षा, अर्थात् वक्ता की अर्थ-संप्रेषण की इच्छा, अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व है। इस विवक्षा की पूर्ति शब्द के बिना संभव नहीं। बाह्य सत्ता न होने पर भी अग्निचक्र और आकाशपुष्प जैसे शब्द हमारे संमुख मानो किसी अर्थ को उपस्थापित करते हैं। दूसरी ओर, सामने पड़ा हुआ पदार्थ भी किसी शब्दरूप से जुड़कर ही हमारे ज्ञान का विषय बनता है। इस प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति का तत्त्व शब्दों पर ही आश्रित है। वक्ता अर्थाभिव्यक्ति की अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त शब्दों का चयन करके उन अर्थों को दूसरे व्यक्ति तक संप्रेषित करता है।

'अर्थप्रवृत्तितत्त्व' शब्द की इसके अलावा भी कुछ व्याख्याएँ *वृत्ति* में दी गई हैं, जैसे- जाति अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व है क्योंकि जाति के बिना शुद्ध वस्तु व्यवहार का विषय नहीं हो सकती; अथवा, शब्दों का परस्पर संसर्ग अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व है, अथवा, अर्थ का आकार ग्रहण करने वाली बुद्धि का स्वरूप ही अर्थ की प्रवृत्ति का तत्त्व है क्योंकि बुद्धि में स्थित होकर ही अर्थ व्यवहार में उतरता है। इन सभी व्याख्याओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहार में आने वाले सभी अर्थों की अभिव्यक्ति शब्द पर ही निर्भर है। और शब्द के तत्त्व का ज्ञान व्याकरण के बिना संभव नहीं।

किन्तु शब्दों का ज्ञान तो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है, उसमें व्याकरण का क्या उपयोग है? ऐसा आक्षेप कुमारिल के *तन्त्रवार्तिक* में पूर्वपक्षी द्वारा किया गया है। पूर्वपक्षी का कहना है कि किसी एक अर्थ में प्रयुक्त होने वाले सभी शब्दों को साधुशब्द मानना चाहिए। इसी क्रम में यहाँ प्रस्तुत कारिका को उद्धृत करते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि कारिका का उत्तरार्ध इस प्रकार होना चाहिए था-

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते।[1]

यह अवधेय है कि यह कुमारिल का अपना मत नहीं अपितु उनके द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष है।

इस विषय में *वृत्ति* में पहले ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शब्द का तत्त्व है उसकी पूर्णता, उसका शुद्ध स्वरूप। शब्द की संस्कारहीनता उसकी अपूर्णता है। और, शब्द के संस्कार में व्याकरण ही प्रमाण है। इसीलिए कहा गया है कि जो व्यक्ति व्याकरण का ज्ञान नहीं रखता वह न तो शब्द, अर्थ, उनके संबन्ध तथा शब्दप्रयोग के निमित्त को सही रूप में पहचान सकता है, न अर्थ की समानता होने पर भी साधु और असाधु कहलाने वाले शब्दों की जानकारी रखता है। वह उन शिष्टों को भी नहीं जान पाता जिनका अनुमान उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के शुद्ध प्रयोग से ही संभव है –

शब्दार्थसंबन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून्।
साधुप्रयोगानुमितांश्च शिष्टान् न वेद यो व्याकरणं न वेद।। – *वृत्ति, वा.प.*1, पृ. 43

कुमारिल ने भी *तन्त्रवार्तिक* में यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि व्याकरण के बिना वाचक एवम् अनपभ्रंश रूप में शब्दों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता --

तस्मान्न लोकवेदाभ्यां कश्चिद् व्याकरणादृते।
वाचकाननपभ्रष्टान् यथावज्ज्ञातुमर्हति।। -*मी.सू.* 1.3.27 पर *तन्त्रवार्तिक*, पृ. 215.
यथा रत्नपरीक्षायां साध्वसाधुत्वलक्षणम्।
तथा व्याकरणात्सिद्धं साधुशब्दनिरूपणम्।। -*वही*, पृ.. 219.

14. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।।

अनु.:- वह (व्याकरण) मोक्ष का द्वार है, वाणी की मलिनताओं की चिकित्सा है, सभी विद्याओं को पवित्र करने वाला है और सभी विद्याओं में शोभा पाता है।

व्या.:- वैयाकरण के मत में व्याकरण मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है, अतः इसे मोक्ष का द्वार कहा गया है। अगली कुछ कारिकाओं में

---

[1] *मीमांसासूत्र* 1.3.24 पर *तन्त्रवार्तिक*, पृ. 200 (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली संस्करण)।

भर्तृहरि इस बात को दुहराते हैं। 22वीं कारिका में वे कहते हैं कि परब्रह्म की प्राप्ति व्याकरण के ज्ञान से संभव है। यह अवधेय है कि भर्तृहरि की दृष्टि में परब्रह्म शब्दरूप ही है।

व्याकरण मोक्षप्राप्ति का उपाय कैसे हो सकता है? *वृत्ति* में इसकी प्रक्रिया को कुछ विस्तार से बतलाया गया है। साधु शब्दों के प्रयोग से मनुष्य एक आध्यात्मिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है जिससे अभ्युदय की प्राप्ति होती है। साथ ही, इस उत्कर्ष की सहायता से वह शब्दस्वरूप के अभेद को जान पाता है। इस अभेद को जानकर वह प्रत्येक प्रकार के क्रम से मुक्त होते हुए शब्दपूर्व योग को प्राप्त करता है। अब तक हो रही भेद की प्रतीति केवल अविद्या के कारण थी। क्रमशः शब्दतत्त्व के साथ एकत्व प्राप्त करके साधक इन्द्रियों से परे चला जाता है और वर्णों आदि के भेदों से रहित वागवस्था को प्राप्त करके शब्दपूर्व योग के निरन्तर अभ्यास से वह प्रतिभा की स्थिति तक पहुँचता है और फिर शब्दपूर्व योग की निरन्तर भावना के अभ्यास से परा प्रकृति को प्राप्त करता है जहाँ समस्त विकारों की प्रतीति भी शान्त हो चुकी है। इस समस्त प्रक्रिया में यह आवश्यक है कि साधक क्रम और भेद की धारणाओं से ऊपर उठकर शब्दतत्त्व के साथ एक होने का प्रयास करे। यही शब्दपूर्व योग है जिसकी चर्चा आगे 20वीं कारिका में और *वृत्ति* में भी प्रस्तुत कारिका, एवं कारिका 131 व 142 के अन्तर्गत की गई है। व्याकरण द्वारा संस्कारित शब्दों का ज्ञान एवं प्रयोग इस शब्दपूर्व योग की प्राप्ति का उपाय है, जैसा *वृत्ति* के निम्नलिखित अनुच्छेदों में कहा गया है –

1. **व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वेऽपभ्रंशोपघातापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः। तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां.... सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति।** – (*वा.प.* 1.131 पर *वृत्ति*)
2. **तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन वा शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम्यत इत्येकेषामागमः।** –(*वा.प.* 1.142 पर *वृत्ति*)

इस प्रकार, शब्दपूर्व योग की प्राप्ति में सहायक होकर व्याकरण मोक्षप्राप्ति का द्वार बनता है। व्याकरण वाणी की समस्त अशुद्धियों को दूर करके उसे शुद्ध एवं स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करता है, इसलिए यह वाणी की मलिनताओं की चिकित्सा है। सभी विद्याओं का उपदेश शब्दों द्वारा ही दिया जाता है और व्याकरण शब्द का संस्कारक है। इसलिए ग्रन्थरचना करते समय सभी शास्त्रकार व्याकरण की सहायता लेते हैं और असाधु शब्दों का परिहार करते हैं। इसलिए व्याकरण की शोभा सभी विद्याओं में है और यह उन्हें पवित्र करता है। कहा भी है-

आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥

15. यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम्॥

अनु.:- जिस प्रकार सभी अर्थजातियाँ शब्दजाति पर आश्रित हैं उसी प्रकार लोक में यह (व्याकरण) विद्या सभी विद्याओं की आश्रय है।

व्या.:- शब्द का अर्थ जाति है क्योंकि कोई भी शब्द, जैसे गौ, किसी विशेष व्यक्ति का अभिधान नहीं करता। गौ शब्द से गो-सामान्य का बोध होता है। किन्तु अर्थजाति के अभिधान से भी पहले शब्द अपने स्वरूप का बोध कराता है। शब्द का यह स्वरूप शब्दजाति कहलाता है क्योंकि किसी शब्द (जैसे गौ) का उच्चारण कितनी ही बार एवं कितने ही मनुष्यों द्वारा किया जाए उसका रूप वही रहता है। इसलिए भर्तृहरि कहते हैं-

स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥ - *वा.प.*, 3, जाति. 6

अब, जितनी भी अर्थजातियाँ (गोत्व, घटत्व आदि) हैं वे सब अपनी अभिव्यक्ति एवं प्रतीति के लिए शब्दजाति (गोशब्दत्व, घटशब्दत्व आदि) पर निर्भर हैं। बिना शब्दजाति के न तो उनका अभिधान हो सकता है, न प्रतीति। इसी प्रकार व्याकरण के बिना किसी भी विद्या का ज्ञान संभव नहीं। किसी शब्द में कौन सी विभक्ति, कौन सा समास है प्रकृति का अर्थ क्या है, प्रत्यय किस अर्थ में हुआ है, आदि को जाने बिना शब्द के अर्थ को सही रूप में नहीं जाना जा सकता और क्योंकि सभी विद्याएँ शब्दों में ही निबद्ध हैं, अतः शब्द का सही अर्थ जाने बिना उनका ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए कहा गया है - 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।' इस प्रकार सभी विद्याओं का उपकारक होने के कारण व्याकरण सभी विद्याओं का परम *अयन* अर्थात् परम मार्ग है। अर्थबोध के लिए सभी *विद्याएँ* इस शास्त्र पर निर्भर हैं। इसलिए *काशिका* पर अपनी *पदमंजरी* टीका में *हरदत्तमिश्र* इसे सभी विद्याओं का दीपक कहते हैं-

उपासनीयं यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत्।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम्॥

16. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

अनु.:- यह (व्याकरण) सिद्धि की ओर ले जाने वाली सोपान-परम्परा की पहली सीढ़ी है। मोक्ष के इच्छुक मनुष्यों के लिए यह सरल राजमार्ग है।

व्या.:- सिद्धि का अर्थ यहाँ मोक्ष है क्योंकि वही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। व्याकरण उसमें कैसे सहायक है यह पीछे (कारिका 14 की व्याख्या में) स्पष्ट कर चुके हैं। *लघुमञ्जूषा* में नागेश भी कहते हैं कि शास्त्रज्ञानपूर्वक साधु शब्दों का प्रयोग चित्तशुद्धि द्वारा वाणी के साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करते हुए मोक्षप्राप्ति की ओर ले जाता है - ''यद्यपि शास्त्रज्ञानं विना प्रकारान्तरेणापि पदार्थज्ञानं लोके दृश्यते तथापि शास्त्रीयप्रकृतिप्रत्ययव्युत्पादनपूर्वकं विजातीयतज्ज्ञानपूर्वकप्रयोगस्य चित्तशुद्धिद्वारा अपवर्गसंपादकत्वेन शास्त्रज्ञानस्य आवश्यकत्वात्।''

स्वयं भर्तृहरि आगे (कारिका 131 में) कहते हैं कि शब्द का संस्कार परमात्मा की सिद्धि है (तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः)। अब व्याकरण का तो उद्देश्य ही शब्द का संस्कार है। अतः व्याकरण उस सिद्धि का प्रथम साधन है।

17. अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्॥

अनु.:- इस व्याकरण के अध्ययन से सभी भ्रान्तियों से मुक्त आत्मा वेद की प्राप्ति (अथवा – रक्षा) के योग्य होकर वेदों के कारणभूत वेदमय शुद्ध स्वरूप को देखता है।

व्या.:- *वाक्य* को शब्दों में तथा शब्द को प्रकृति और प्रत्यय में विभाजित करके व्याकरण शब्द और अर्थ के स्वरूप को समझने में हमारा सहायक होता है। साथ ही, व्याकरण क्रमशः यह जानने में भी हमारा सहायक होता है कि यथार्थ सत्ता वस्तुतः एक है और ये सभी विभाग वस्तुतः एक ही सत्ता के विविध रूप हैं। भर्तृहरि के शब्दों में, वे केवल प्रारम्भिक उपाय हैं-

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ – *वा.प.* 2.233

कारिका में 'आत्मा' शब्द जीवात्मा अर्थात् मोक्ष के इच्छुक साधक के लिए प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण की सहायता से साधक प्रकृति-प्रत्यय से पद तक, पद से वाक्य तक और वाक्य से महावाक्य अर्थात् वेद तक पहुँचता है। वेदार्थ के ज्ञान में भी व्याकरण सहायक है। वेद के निरन्तर अभ्यास से (देखें पाँचवीं कारिका की व्याख्या) साधक वेद के कारणभूत ओंकार-तत्त्व को जान लेता है। यही शब्द का शुद्ध रूप है। इस प्रकार क्रम से व्याकरण हमें उस शुद्ध सत्ता की ओर ले जाता है जो सामान्य शाब्दिक ज्ञान से परे है।

कारिका में 'छन्दस्यः' शब्द का अर्थ वृषभदेव ने 'छन्दसां समूहः' किया है और छन्द का अर्थ वे अक्षर लेते हैं। अतः 'छन्दस्य आत्मा' का अर्थ हुआ सप्तदश अक्षरस्वरूप आत्मा। 'वसोः समूहे च' (*अष्टाध्यायी* 4.4.140) सूत्र पर 'अक्षरसमूहे छन्दस स्वार्थे उपसंख्यानम्' वार्तिक से 'छन्दस्' शब्द से अक्षर समूह के अर्थ में 'यत्' प्रत्यय किया जाता है। 'ओं श्रावय', 'ये यजामहे', 'अस्तु श्रौषट्', 'यज', 'वषट्', इन पाँच व्याहृतियों में कुल 17 अक्षर हैं जिनके द्वारा प्रजापति द्वारा दृष्ट यज्ञ का विधान है। इन 17 अक्षरों को 'छन्दस्य' कहा गया है - ओ श्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषट् इति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम् ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, द्व्यक्षरो वषट्कारः एष वै सप्तदशाक्षरश्छन्दस्यः प्रजापतिर्यज्ञो मन्त्रे विहितः। सप्तदशाक्षराण्येव छन्दस्य इत्यर्थः (*काशिका*., 4.4.140)।

आगे कारिका 120 की वृत्ति में दिये एक उद्धरण में 'छन्दस्य' शब्द का प्रयोग प्रजापति के विशेशण के रूप में हुआ है जो अपने आपको अनेक प्रकार से विभाजित करके शब्दरूप मात्राओं द्वारा अपने आप में ही प्रविष्ट होता है।

विभज्य बहुधात्मानं स छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिः मात्राभिः बहुधैव विवेश तम्॥

इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में वृषभदेव के अनुसार व्याख्या करने पर 'छन्दस्य आत्मा' का अर्थ शब्दरूप जीवात्मा लेना उचित होगा जो सभी भ्रान्तियों से मुक्त होकर अपने उस शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करता है जो शब्दमय है और वेद सहित सभी व्यक्त शब्दों का स्रोत है। अय्यर एवं पं. रघुनाथ शर्मा आदि विद्वान् *अष्टा.* 4.4.48: 'तत्र साधुः' के अनुसार, 'छन्दस्यः' का अर्थ 'छन्दसि साधुः' करते हैं, अर्थात् 'छन्द (वेद) की रक्षा करने के योग्य' अथवा 'वेद को ग्रहण करने के योग्य।' व्याकरण का अध्येता वेद के शब्दों और अर्थों को भली भाँति ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार वेद के संरक्षण में भी अपना योगदान करता है, जैसा *महाभाष्य* के पस्पशाह्निक में कहा है - ''लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयति''।

18. प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते॥

अनु.:- भेदों की प्रतीति जिसमें समाप्त हो गई है, ऐसी वाणी का जो उत्तम रूप है, जो शुद्ध ज्योति इस (अज्ञानरूपी) तमस् में ही विवर्तरूपों में प्रकट होती है (उस परब्रह्म की प्राप्ति व्याकरण के ज्ञान से होती है)।

व्या.:- यहाँ से आरम्भ कर पाँच कारिकाएँ परस्पर संबद्ध हैं। प्रथम चार कारिकाओं (18-21) में दिये गए 'यत्' सर्वनाम का संबन्ध पाँचवीं कारिका (कारिका 22) में 'तद्' के साथ है- 'तत् परं ब्रह्म व्याकरणम् आगम्य अधिगम्यते', (अर्थात् चार कारिकाओं में जिसकी चर्चा की गई है 'वह ब्रह्म व्याकरण के ज्ञान द्वारा प्राप्त किया जाता है') यह वाक्य चारों कारिकाओं के साथ संबद्ध होता है। वह परब्रह्म शब्दस्वरूप है और वही चरम पुरुषार्थ है, यह बात इन चारों कारिकाओं में स्पष्ट की गई है।

भर्तृहरि यहाँ शब्दब्रह्म की अक्रम और सक्रम दोनों अवस्थाओं की चर्चा कर रहे हैं। यथार्थ सत्ता वस्तुतः एक है। उस एक सत्ता का बहुविध विभाजन ही दृश्यमान जगत् है जो अविद्या का परिणाम है। इसलिए विवर्त की इस अविद्यामय स्थिति को तमस् कहा गया है। किन्तु उन सभी रूपों में जो भासित होता है वह वस्तुतः ब्रह्म ही है। वही परम ज्योति है यह पहले भी 12वीं कारिका में कह चुके हैं। जब भेदों की प्रतीति समाप्त होकर क्रम का संहार हो जाएगा तो वह ब्रह्म अपने शुद्ध रूप में हमारे संमुख प्रकाशित होगा। ब्रह्म की इस अवस्था को पथम कारिका की *वृत्ति* (पृ. 9-10) में संवर्त कहा गया है जहाँ क्रम का संहार हो जाता है- ''शब्दाख्यादुपसंहतक्रमाद् ब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्ताद् अनाकृतात्...।'' वही अक्रम और अखण्ड तत्त्व वाक् का उत्तम रूप है जो लोकव्यवहार से परे है और जिसका साक्षात्कार होने पर और कुछ भी पाने के लिए नहीं रहता। यहाँ 'वाक्' शब्द का प्रयोग सामान्य लौकिक भाषा के लिए नहीं अपितु परमतत्त्व के लिए है जैसा ऋग्वेद (X. 114.8) में कहा है - यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

19. वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते॥

अनु.:- विकारभूत मूर्ति एवं क्रिया के ज्ञान का अतिक्रमण करके योगी लोग आलोक और तमस् (विद्या और अविद्या) से परे स्थित जिस प्रकाश की उपासना करते हैं (उस परब्रह्म की प्राप्ति...)।

व्या.:- व्यावहारिक स्तर पर जगत् में जिस विविधता की प्रतीति होती है वह मात्र विकृति है। उन सब की मूल प्रकृति ब्रह्म वस्तुतः अद्वैत एवं निरंश सत्ता है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। व्यावहारिक जगत् में प्रतीयमान सभी आकार और क्रियाएँ इस विकृति से उत्पन्न होने के कारण वैकृत कहे गए हैं। स्थान-विशेष के संदर्भ में जिनकी स्थिति है वे मूर्तिविवर्त हैं और काल के संदर्भ में (उत्पत्ति-विनाश आदि के रूप में) जिनकी स्थिति है वे क्रिया-विवर्त हैं। ये दोनों ही अविद्या के परिणाम हैं यह प्रथम कारिका की *वृत्ति* में कहा गया है – ''मूर्तिक्रियाविवर्तौ अविद्याशक्ति- प्रवृत्तिमात्रम्।'' बाह्य आकारों की प्रतीति से युक्त ज्ञान मात्र एक विकृति है (उपप्लवो हि ज्ञानस्य बाह्याकारानुपातिता –*वा.प.*, 3.3.57)। योगी जन इस विकृति की असत्यता को जानकर बाह्य आकारों और क्रियाओं के ज्ञान से ऊपर उठकर निर्विकल्पक समाधि में उस परब्रह्म की उपासना करते हैं जो प्रकाश एवम् अन्धकार अर्थात् विद्या और अविद्या से भी परे, सब प्रकार के वृत्तिज्ञान से ऊपर शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है। *वाक्यपदीय* एवं *वृत्ति* में ब्रह्म के लिए 'ज्योति' एवं 'प्रकाश' जैसे शब्दों का प्रयोग अनेक बार हुआ है, जिससे यह स्पष्ट है कि वैयाकरण के दर्शन में शब्दब्रह्म एक स्वयंप्रकाश सत्ता है।

20. यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥

अनु.:- जिसमें वाणी के निमित्त (पद एवं पदार्थ) शब्दपूर्व योग द्वारा वर्णमाला के अक्षरों की भाँति प्रतिबिम्ब के समान भासित होते हैं (उस परब्रह्म की प्राप्ति.)।

व्या.:- शब्दतत्त्व अथवा वाणी के निमित्त से तात्पर्य पदार्थ एवं वाणी की अभिव्यक्ति के निमित्तभूत पदों अथवा वाक्यों से है। पदार्थ वाणी के निमित्त हैं क्योंकि उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। पद अथवा वाक्य अक्रमा वाक् की अभिव्यक्ति के निमित्त हैं। शब्दपूर्व योग के अभ्यास से ये सब योगी के समक्ष उसी प्रकार प्रकट हो जाते हैं जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब। किन्तु दर्पणगत प्रतिबिम्ब की भाँति ही इनकी कोई वस्तुसत्ता नहीं है और ये पद-पदार्थ ब्रह्म के एकत्व को प्रभावित नहीं करते। इस संदर्भ में यहाँ वर्णमाला के चिह्नों का उदाहरण दिया गया है। 'क', 'ख', 'ग' आदि वर्ण वर्णमाला के लिपिगत अक्षर ही नहीं हैं। लिपिसंकेत के रूप में दिखाई देने वाली रेखाएँ उन वर्णों के प्रतीक मात्र हैं। वास्तविक वर्णजाति उनसे भिन्न है जो भाषा-व्यवहार में दिखलाई पड़ती है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से लिपि-चिह्न आवश्यक सहायक हैं। इसी प्रकार योगीजन ब्रह्म में समस्त पद-पदार्थों को प्रतिबिम्ब अथवा आभास के रूप में देखते हैं। शब्दपूर्व योग की यह एक अन्तर्वर्ती अवस्था है। क्रमशः आभास से ध्यान हटा कर वे शुद्ध चैतन्यरूप शब्दतत्त्व का दर्शन करते हैं।

शब्दपूर्व योग की कुछ चर्चा हम 14वीं कारिका की व्याख्या में कर चुके हैं। इस योग के द्वारा साधक परब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। भेद का अभाव और क्रम का संहार शब्दपूर्व योग के आवश्यक लक्षण हैं। के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर इस संदर्भ में कारिका 131 पर उद्धृत निम्नलिखित तीन पद्यों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं-

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि॥
वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम्॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥

इन पद्यों के अनुसार परब्रह्म के साथ तादात्म्य की प्रक्रिया इस प्रकार है। ''प्राण के धरातल से ऊपर वाक्तत्त्व में अपने आपको एकाग्र करके, क्रम को पूर्णतः समाप्त करते हुए आत्मा (अहंकार) को आत्मा में लीन करके, वाणी का संस्कार करके और उसे ज्ञान में स्थापित

(अर्थात् बुद्धि के साथ एकाकार) करके, उसके बन्धनों (अविद्या आदि) को काटकर और उसे सर्वथा बन्धनमुक्त करके, अपनी सभी ग्रन्थियों से मुक्त होकर वह (साधक) परम ज्योति के साथ एक हो जाता है।''

यह परम ज्योति परब्रह्म ही है। इसके साथ तादात्म्य ही ब्रह्म प्राप्ति है। इसमें शब्द की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इस प्रक्रिया को ही अय्यर 'शब्दपूर्व योग' कहते हैं (अय्यर; 1969: पृ. 145)। इस प्रकार शब्दपूर्व योग शब्द को आलम्बन बना कर की जाने वाली योगक्रिया है। शब्द जब प्राण के स्तर पर उतरता है और प्राणवायु उच्चारणस्थानों से टकराती है तो अनेकत्व की अभिव्यक्ति होती है। प्राण के धरातल से ऊपर उठना वाग्योग की प्रक्रिया में प्रथम सोपान है। अगला सोपान है शब्द को बुद्धि के धरातल तक ले जाना। क्रमशः सभी उपाधियों और बन्धनों को तोड़कर साधक उस परम ज्योति के साथ एकत्व प्राप्त करता है जो परब्रह्मस्वरूप है।

पूर्वोक्त पद्यों में वर्णित यह प्रक्रिया कठोपनिषद् में वर्णित उस प्रक्रिया से बहुत मिलती-जुलती है जहाँ वाणी को मन में, मन को ज्ञानरूप आत्मा अर्थात् बुद्धि में, बुद्धि को महत्तत्त्व में और उसे साक्षीभूत आत्मा में लीन करने का निर्देश दिया गया है। यहाँ वाणी से तात्पर्य सक्रम वाक् से है जिसका उपसंहार करते हुए क्रमशः परमतत्त्व तक पहुँचना है-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि (महति) नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ – क. उ. 1.3.13.

21. अथर्वणामङ्गिरसां साम्नामृग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः॥

अनु.:- जिसमें अथर्वाङ्गिरस, सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद के अनेकविध वर्ण (उच्चावचा वर्णाः) पृथक् स्थिति को ग्रहण करते हैं (उस परब्रह्म की प्राप्ति)।

व्या.:- वेद वस्तुतः एक है और प्रणवरूप में भेदरहित रूप में विद्यमान है। प्रणव शब्दतत्त्व से भिन्न नहीं है किन्तु जो ऋषि उसका साक्षात्कार कर चुके हैं वे भी उसकी अभिव्यक्ति और उसका उपदेश अभेद के रूप में नहीं कर सकते। जैसा हम पहले (कारिका 3-4) देख चुके हैं, मनुष्य की इसे ग्रहण करने की असामर्थ्य के कारण वेद का उपदेश इसे अनेक शाखाओं में विभक्त करके किया गया है। इन सभी वेदों के वर्ण अपनी पृथक्-पृथक् स्थिति ग्रहण करते हैं किन्तु इनकी यह पृथक्-पृथक् स्थिति ब्रह्म में ही है और ब्रह्म परमार्थतः उनसे भिन्न नहीं है, या कहें कि वे ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

अथर्वाङ्गिरस का विशेष रूप से उल्लेख, पं. रघुनाथ शर्मा की *अम्बाकर्त्री* टीका के अनुसार, इस शाखा की प्रशंसा के लिए है, अन्य शाखाओं की निवृत्ति के लिए नहीं। किन्तु वस्तुतः 'अथर्वाङ्गिरस' शब्द सम्पूर्ण *अथर्ववेद* के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। मैकडोनल-कीथ ने *Vedic Index of Names and Subjects* में बतलाया है कि *तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक* एवं *छान्दोग्य उपनिषद्* आदि में *अथर्ववेद* को ही 'अथर्वाङ्गिरस' नाम से अभिहित किया गया है।

22. यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते॥

अनु.:- एक होते हुए भी जिसको भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार अनेक रूपों में प्रतिपादित किया गया है, उस परब्रह्म की प्राप्ति व्याकरण के ज्ञान से होती है।

व्या.:- परमतत्त्व वस्तुतः एक ही है किन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनों की रीतियों के अनुसार उसे ईश्वर, प्रधान, यज्ञ, परमात्मा आदि अनेक रूपों में देखा जाता है। भर्तृहरि के मत में ये सभी दृष्टियाँ उस परब्रह्म के ही विषय में है क्योंकि उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। भेद केवल प्रक्रिया का है। इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के प्रति भर्तृहरि का दृष्टिकोण पर्याप्त सहिष्णु है। इसीलिए वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शन-परम्पराओं से ही विवेक का उदय होता है-

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः। –वा.प. 2.486.

शास्त्र की प्रक्रियाएँ भर्तृहरि के मत में अविद्या मात्र हैं (शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते –वा.प., 2.233) किन्तु वे विद्या अर्थात् परमतत्त्व तक पहुंचने में सहायक हैं (असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते –वा.प., 2.238)। वस्तुतः ब्रह्म की ठीक-ठीक परिभाषा देना संभव ही नहीं जैसा शंकर भी *ब्रह्मसूत्रभाष्य* में कहते हैं-'न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति' (ब्र.सू.भा., पृ. 124, निर्णयसागर संस्करण)। *वाक्यपदीय* की *वृत्ति* में उद्धृत एक कारिका में भी कहा है-

यः सर्वपरिकल्पानामाभासेऽप्यनवस्थितः।
तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः॥ –*वृत्ति*, पृ. 10.

व्याकरण ब्रह्म की प्राप्ति का साधन किस प्रकार है, इसकी चर्चा हम पहले कारिका 14-17 की व्याख्या में कर चुके हैं।

23. नित्याः शब्दार्थसंबन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥

अनु.:- उस व्याकरण में सूत्रों, वार्तिकों और भाष्यों के प्रणेता महर्षियों द्वारा शब्द, अर्थ और उनका संबन्ध नित्य कहा गया है।

व्या.:- व्याकरण में सभी आचार्यों ने शब्द, अर्थ और उनके संबन्ध को नित्य माना है। पाणिनि संज्ञा को ही प्रमाण मानते हुए संज्ञाओं के विषय में लिङ्ग-वचन की व्यवस्था को व्याकरण के अनुशासन का विषय नहीं मानते (तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् –अष्टा. 1.2.54)। इससे स्पष्ट है कि वे शब्द को नित्य मानते हैं जिसके विश्लेषण और व्याख्या के लिए व्याकरणशास्त्र के नियमों की रचना की जाती है। पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में स्पष्ट किया है कि व्याकरण द्वारा शब्दों का निर्माण नहीं किया जाता। सिद्ध शब्दों का अन्वाख्यान ही व्याकरण द्वारा किया जाता है। पस्पशा. के प्रथम वार्तिक 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' में 'सिद्ध' शब्द का अर्थ 'नित्य' किया जाता है। प्रत्याहाराह्निक में 'अइउण्' के भाष्य में भी पतञ्जलि कहते हैं- ''नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यम्।'' शास्त्र की प्रवृत्ति होना ही यह सूचित करता है कि शब्द, अर्थ और उनका संबन्ध नित्य है, अन्यथा व्याकरणशास्त्र द्वारा इनके संबन्ध में व्यवस्था देना ही निष्प्रयोजन होता।

नित्य शब्द से तात्पर्य जातिरूप शब्द से है। जब अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द में वही होने (तत्ता) का बोध होता है तो उसके पीछे शब्दजाति ही कारण है। उदाहरण के लिए, वृक्षशब्द अनेक व्यक्तियों द्वारा और भिन्न-भिन्न स्थल व काल में बोला जाने पर भी वही रहता है। अन्यथा एक व्यक्ति द्वारा बोला गया 'वृक्ष' शब्द दूसरे व्यक्ति के 'वृक्ष' शब्द से भिन्न होता। किन्तु सभी उच्चारणों में 'यह वही वृक्ष शब्द है', ऐसा बोध होता है। इसलिए 'वृक्षशब्दत्व', 'घटशब्दत्व' आदि जातियाँ ही शब्द हैं। जो लोग जाति को स्वीकार नहीं करते, वे मानते हैं कि एक नित्य शब्द-व्यक्ति अनेक ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होती है। व्यवहार-नित्यता अथवा प्रवाहनित्यता की दृष्टि से भी शब्द नित्य है। इस संदर्भ में भर्तृहरि दो प्रकार की नित्यता की बात *महाभाष्यदीपिका* में भी करते हैं – परमार्थनित्यता और व्यवहार-नित्यता। परमतत्त्व के रूप में शब्द की नित्यता परमार्थनित्यता अथवा कूटस्थनित्यता है किन्तु जब हम भिन्न-भिन्न उच्चारणों में किसी शब्द – जैसे 'वृक्ष' अथवा 'घट' – को 'वही' के रूप में पहचानते हैं तो वह शब्द की व्यवहार-नित्यता है। नित्य बहने वाली नदी की भाँति शब्द का व्यवहार भी अनादि काल से चला आ रहा है। व्यवहार में जिन शब्दों का प्रयोग होता है वे पहले भी प्रयुक्त होते रहे हैं। नए शब्दों के प्रचलन में आने पर भी शब्द की नित्यता बाधित नहीं होती क्योंकि आन्तरिक शक्ति (क्रतु) के रूप में शब्द अनादि काल से हमारे साथ है जो अपने को विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है। अनादि काल से मनुष्य भाषा का प्रयोग करता रहा है और यह प्रयोग किसी न किसी अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही होता है। इस सम्बन्ध को संकेत पर आधारित (अमुक शब्द का अमुक अर्थ हो) नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि ऐसा मानें तब संकेत की स्थापना के लिए भी भाषा की पूर्व-उपस्थिति आवश्यक है। अतः व्यवहारनित्यता अथवा प्रवाहनित्यता की दृष्टि से भी शब्द नित्य है। यह तथ्य स्मरणीय है कि यह शब्द ध्वनियों अथवा वर्णों से भिन्न है। ध्वनियाँ तो शब्द को व्यक्त करके नष्ट हो जाती हैं। किन्तु एक सार्थक इकाई के रूप में पद अथवा वाक्य मानस में विद्यमान रहता है जिसे वैयाकरण स्फोट भी कहते हैं। यह अर्थबोधक शब्द ही भर्तृहरि की दृष्टि में नित्य है। *महाभाष्यदीपिका* में भी भर्तृहरि यही कहते हैं। पस्पशा. में पतञ्जलि के वाक्य 'द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च' पर वे कहते हैं- कैश्चिन्नित्योऽयमिति दृष्टः कैश्चिदनित्य इति। अथवा जातिर्व्यक्तिश्च। अथवा स्फोटो ध्वनिश्च।

अर्थ की नित्यता भी जाति के आधार पर है। व्यक्तियों के नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती। अनेक घटों के नष्ट होने पर भी, अथवा अनेक गायों की मृत्यु होने पर भी घटजाति अथवा गोजाति विद्यमान रहती है जिससे स्पष्ट है कि अर्थजाति नित्य ही है। प्रवाहनित्यता की दृष्टि से भी अर्थ नित्य है। जब-जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तब तब अर्थाकारा बुद्धि उत्पन्न होती है भले ही बाह्य रूप में उस पदार्थ की सत्ता न भी हो। यदि बाह्य अर्थ के रूप में जाति न हो तो भी अर्थ एक ज्ञान के रूप में बुद्धि में विद्यमान रहता है। डॉयनोसोर नाम के प्राणी के लुप्त हो जाने पर भी हमें 'डॉयनोसोर' के उच्चारण से एक अर्थ का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धिगत प्रत्यय के रूप में अर्थ नित्य ही है।

शब्द और अर्थ का संबन्ध भी नित्य है। शब्द के उच्चारण के साथ ही हमें अर्थ का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों में नित्य संबन्ध है। यह संबन्ध किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित नहीं है। व्याकरण भी इस संबन्ध की रचना नहीं करता। उसका कार्य मात्र इसे स्पष्ट करना है। इसीलिए पतञ्जलि (अष्टा. 2.1.1 पर) कहते हैं कि शब्द से अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है। अर्थ को आदिष्ट नहीं किया जा सकता। पाणिनि, जब अपने सूत्रों में अर्थ का निर्देश करते हैं तो वे उस स्वाभाविक संबन्ध की व्याख्या ही कर रहे हैं – ''किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानमाहोस्विद् वाचनिकम्? स्वाभाविकमर्थानादेशनात्। ...स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते।'' जब भी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो अर्थ की प्रतीति उससे अभिन्न रूप में होती है। 'घट' शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह भी घट ही है। बाह्य पदार्थ हो या न हो, शब्द से अर्थ का बोध अपरिहार्य रूप में होता ही है। नियत शब्द से नियत अर्थ की प्रतीति शब्द और अर्थ के संबन्ध की नित्यता की सूचक है। इसीलिए महाभाष्यकार 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' पर कहते हैं- ''नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः'' (पस्पशा.)।

24. अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः॥

25. कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं संबन्धाः साध्वसाधुषु॥

26. ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम्॥

अनु.:- (1) वे अर्थ जो अपोद्धार (व्याकरणिक विश्लेषण, प्रकृति-प्रत्यय-विभाग) द्वारा प्राप्त किये गए हैं और (2) वे जो निश्चित स्वरूप वाले हैं; (3) अन्वाख्येय (प्रयोगगत) शब्द (जिनका विश्लेषण व्याकरण में किया जाता है) और (4) प्रतिपादक शब्द (जो मात्र व्याकरण में प्रयुक्त होकर अन्वाख्यान में सहायक हैं); (5) कार्यकारण-संबन्ध और (6) योग्यता-संबन्ध जो साधु शब्दों में (7) धर्म में और (8) अर्थज्ञान में तथा असाधु शब्दों में केवल अर्थज्ञान में सहायक हैं।

ये सब कहीं संकेतों के माध्यम से और कहीं स्पष्ट शब्दों में इस (व्याकरण) शास्त्र में वर्णित हैं, स्मृति में रखने के लिए इनमें से कुछ (साधु शब्दों) की ही चर्चा यहाँ (*वाक्यपदीय* अथवा व्याकरणशास्त्र में) आगम के अनुसार की जा रही है।

व्या.:- इन तीन कारिकाओं में *वाक्यपदीय* की विषय-वस्तु का कथन किया गया है। शब्द, अर्थ और उनका संबन्ध दो-दो प्रकार के हैं और उनका फल – धर्म एवं अर्थज्ञान – भी दो प्रकार का है। व्याकरण के इन आठ विषयों पर ही इस ग्रन्थ में विचार किया गया है जिससे उन्हें स्मृति में सुरक्षित किया जा सके।

(व्याकरण में पदों का प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप में किया जाने वाला विभाजन मात्र अर्थ को समझने की सुविधा के लिए है। वस्तुतः यह केवल शास्त्रीय कल्पना है। प्रकृति-प्रत्यय के रूप में पद का विभाग कर अर्थ को भी विभाजित किया जाता है। इस काल्पनिक पृथक्करण को ही अपोद्धार कहते हैं)(देखें, पद्धति –*वा.प.* I, पृ. 64: 'अपोद्धारो विभागः' एवं वाक्यकाण्डटीका–"अपोद्धारः पृथक्करणम्" --*वा.प.* II, पृ. 175)। भर्तृहरि के मत में, जिस प्रकार प्रकृति एवं प्रत्यय काल्पनिक विभाग हैं उसी प्रकार वाक्य एवं वाक्यार्थ का पदों एवं पदार्थों में विभाजन भी काल्पनिक है। वाक्य अनन्त हैं। व्यक्तिशः प्रत्येक वाक्य की व्याख्या संभव नहीं, अर्थबोध की सुविधा के लिए सदृश पदों एवं पदार्थों में बाँटकर उसका स्पष्टीकरण किया जाता है। इसी प्रकार पद का अर्थ समझने के लिए शास्त्रीय अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार पद का विभाजन किया जाता है। अन्वय का अर्थ है, एक के होने पर दूसरे का होना (तत्सत्त्वे तत्सत्ता) और व्यतिरेक का अर्थ है, एक के न होने पर दूसरे का भी न होना (तदभावे तदभावः)। उदाहरण के लिए, 'वृक्षः, वृक्षौ' इन दो शब्दरूपों में मूल प्रकृति वही रहती है जबकि विभक्ति-प्रत्यय परिवर्तित होता है। साथ ही, वृक्ष शब्द का अर्थ दोनों में समान है। पहले में वह एकत्वयुक्त है और दूसरे में द्वित्वयुक्त। इसके आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि तने, जड़, पत्ते आदि से युक्त पदार्थ 'वृक्ष' प्रकृति का अर्थ है और एकत्व अथवा द्वित्व प्रत्यय का। 'वृक्षः' में एकत्व 'सु' प्रत्यय का अर्थ है। 'वृक्षौ' में 'सु' के अभाव में एकत्व अर्थ का भी अभाव है और 'औ' प्रत्यय की उपस्थिति में द्वित्व का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि 'सु' का अर्थ एकत्व है और 'औ' का द्वित्व। किन्तु यह अर्थवत्ता भी केवल शास्त्रीय कल्पना है। लौकिक भाषा-व्यवहार में इसका कोई मूल्य नहीं।

स्थितलक्षण अर्थ वह अर्थ है जिसका स्वरूप व्यवहार द्वारा निश्चित हो चुका है। भिन्न-भिन्न व्याकरणों में पद का विभाजन भिन्न-भिन्न रीति से किया जाता है। 'भवति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भू शप् तिप्' के रूप में भी हो सकती है और 'भव+ति', इस रूप में भी की जा सकती है। 'हंसायते' को पाणिनीय व्याकरण में 'क्यङ्' प्रत्यय जोड़कर सिद्ध किया जाता है जबकि कातन्त्र व्याकरण में यहाँ 'आय' प्रत्यय की कल्पना की गई है। इसी प्रकार वाक्य को पदों में विभाजित करते समय कोई चार प्रकार के पद मानते हैं, कोई पाँच प्रकार के और कोई दो प्रकार के (देखें: *वा.प.* 3, जाति., 1)। अपोद्धृत पद की अर्थवत्ता केवल शास्त्र में है, भाषा में नहीं। अतः इस अर्थ का स्वरूप अनिश्चित है। किन्तु वाक्यार्थ का स्वरूप निश्चित है। इसे शास्त्र द्वारा बदला नहीं जा सकता। भाषागत व्यवहार में यही अर्थ गृहीत होता है। अतः वाक्यार्थ ही स्थितलक्षण अर्थ है। पदवादी की दृष्टि में प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ पद के अर्थ को समझने में उपायमात्र हैं। पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर उनका स्वतः कोई अर्थ नहीं। अतः पद का अर्थ स्थितलक्षण है। किन्तु वाक्यवादी के मत में पद भी वाक्यार्थ को समझने के लिए काल्पनिक उपाय मात्र हैं। वाक्यार्थ के ज्ञान के पश्चात् वे उसी में विलीन हो जाते हैं। अतः वाक्यार्थ ही स्थितलक्षण है।

अर्थ की चर्चा के बाद भर्तृहरि शब्द की चर्चा करते हैं। वस्तुतः व्याकरण शब्दों का विश्लेषण अर्थ के आधार पर ही करता है। अर्थ के आधार पर ही वाक्य को पदों में विभाजित किया जाता है। अन्यथा वर्ण को भी विभाजित करके उसका भी निर्वचन किया जाता। इसलिए पहले अर्थ की बात की गई। अब शब्द की बात करते हैं। अन्वाख्येय वे शब्द हैं जिनका प्रयोग भाषा में वस्तुतः होता है और जिनका अन्वाख्यान व्याकरण द्वारा किया जाता है। अन्वाख्यान का अर्थ है शब्द को प्रकृति-प्रत्यय आदि में विभाजित करके उसके साधुत्व का प्रतिपादन करना। इस विषय में दो मत हैं कि व्याकरण पद का अन्वाख्यान करता है या वाक्य का। पहला पक्ष पदावधिक अन्वाख्यान-पक्ष है और दूसरा वाक्यावधिक-अन्वाख्यान-पक्ष। कर्ता, क्रिया, कर्म आदि में वाक्य को बाँटकर देखना वाक्यावधिकान्वाख्यान है। किन्तु प्रत्येक पद को प्रकृति-प्रत्यय आदि में बाँटना पदावधिक अन्वाख्यान है। उदाहरण के लिए, 'शुक्लम्' शब्द नपुंसकलिङ्ग एकवचन है, किन्तु अन्य शब्दों से उसका संबन्ध होने पर यह रूप बदल जाता है। उदाहरण के लिए, हम 'शुक्लं पटाः' का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः पाणिनि ने 'विशेषणानां चाजातेः' (*अष्टा.* 1.2.52) सूत्र द्वारा व्यवस्था दी है कि गुणवचन शब्द अपने आश्रय के अनुसार लिङ्ग-वचन ग्रहण कर लेते हैं। यदि वाक्यावधिक अन्वाख्यान को मानें तो यह सूत्र व्यर्थ मानना होगा क्योंकि उस पक्ष में तो लिङ्ग-वचन स्वाभाविक ही होंगे।

प्राय: यही माना जाता है कि यद्यपि व्यवहार में भाषा की इकाई वाक्य है तथापि व्याकरणिक विश्लेषण की इकाई पद है क्योंकि वाक्य अनन्त हैं और उनका व्यक्तिश: विश्लेषण संभव नहीं। प्रतिपादक शब्द वे हैं जो इस अन्वाख्यान में प्रयुक्त होते हैं, जैसे 'भू शप् तिप्' आदि 'भवति' इस समुदित शब्द के अर्थ के प्रतिपादन में उपायभूत हैं। अत: इन्हें प्रतिपादक कहा गया है।

योग्यता-संबन्ध : शब्द और अर्थ के बीच भर्तृहरि दो प्रकार के संबन्ध की चर्चा करते हैं– योग्यता-संबन्ध और कार्यकारण-संबन्ध। अर्थ को प्रकाशित करने की शब्द में स्वाभाविक सामर्थ्य है जिसे योग्यता कहा गया है। शब्द प्रकाशक है और अर्थ प्रकाश्य। शब्द वाचक है, अर्थ वाच्य। दोनों के बीच वाचक-वाच्य अथवा प्रकाशक-प्रकाश्य का यह संबन्ध स्वाभाविक है, किसी कर्ता द्वारा उत्पादित नहीं। भर्तृहरि इसे योग्यता का नाम देते हैं। तृतीय काण्ड के संबन्धसमुद्देश में वे कहते हैं कि जिस प्रकार इन्द्रियों में अपने विषयों को प्रकाशित करने की स्वाभाविक योग्यता है उसी प्रकार शब्दों का अर्थ के साथ योग्यता-रूप अनादि संबन्ध है।

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां संबन्धो योग्यता तथा॥ –*वा.प.*, 3.3.29

स्वोपज्ञ-वृत्ति (कारिका 23) में भी कहा गया है कि इन्द्रिय और विषय की भाँति प्रकाश्य-प्रकाशक के रूप में अर्थ और शब्द का संबन्ध योग्यता-रूप है। इस संबन्ध को समयोपाधिक कहा गया है- इन्द्रियविषयवद् वा प्रकाश्यप्रकाशकभावेन समयोपाधिर्योग्यता शब्दार्थयोः संबन्धः (*वा.प.*, I, पृ. 60)। समय का अर्थ है वृद्धव्यवहार से शब्द के अर्थ का ज्ञान। शब्द-विशेष और अर्थ-विशेष के प्रयोग द्वारा जिसको इस संबन्ध का ग्रहण हो चुका है उसे शब्द से स्वभावत: ही अर्थ का ज्ञान होता है।

कार्यकारण-संबन्ध : शब्द अपने उच्चारण के अनन्तर अर्थ के साथ एकाकार होकर अर्थाकार-बुद्धि को उत्पन्न करता है जिससे वक्ता के अभिप्राय का बोध श्रोता को हो जाता है। इस प्रकार श्रोता को हुए ज्ञान का कारण अर्थात् अर्थ का कारण शब्द है। शब्द के स्वरूप, बाह्य पदार्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान, तीनों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग यह भी सूचित करता है कि शब्द और अर्थ के बीच अभेद के माध्यम से शब्द अर्थ का ज्ञान कराता है। इस अभेद-संबन्ध के कारण ही, जब वक्ता अपने अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का प्रयोग करता है तो वक्ता का अभिप्रायरूप अर्थ शब्द के प्रयोग का कारण बनता है। इस प्रकार शब्द अर्थ का कारण है और अर्थ शब्द का। इसीलिए संबन्धसमुद्देश में भर्तृहरि कहते हैं-

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते॥ – *वा.प.*, 3.3.32.

(शब्द अर्थ का कारण है क्योंकि वह (अर्थ) उस (शब्द) से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार बुद्धि के विषयभूत अर्थ से शब्द की प्रतीति होती है।)

साधु शब्दों का अर्थ के साथ होने वाला संबन्ध अपने ज्ञान द्वारा, अथवा व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के साथ प्रयोग करने पर, धर्मप्राप्ति में सहायक होता है, जैसा *महाभाष्य*, पस्पशाह्निक में कहा गया है- ''शास्त्रपूर्वकं य: शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते।'' साथ ही, अर्थ के ज्ञान में भी वह प्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। पतञ्जलि के मत में साधु और असाधु शब्दों से अर्थ का बोध समान रूप से होने पर भी व्याकरण द्वारा धर्म के लिए यह नियमन किया जाता है (*म.भा.*, पस्पशा) कि साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये। भर्तृहरि के मत में अपभ्रंश शब्द अर्थज्ञान तो कराते हैं किन्तु वह अर्थज्ञान अनुमान से होता है (ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः –*वा.प.* I. 149)। अश्व के स्थान पर वक्ता यदि 'अस्व' शब्द का प्रयोग करता है तो श्रोता समझ लेता है कि वक्ता को अश्व शब्द अभिप्रेत था किन्तु असामर्थ्य के कारण वह 'अस्व' बोल रहा है। तदनुसार श्रोता को अर्थज्ञान 'अश्व' शब्द के अनुमान से होता है।

इस प्रकार, दो प्रकार का अर्थ, दो प्रकार का शब्द, दो प्रकार का संबन्ध और दो प्रकार का फल - ये आठ विषय ही व्याकरण शास्त्र का विवेच्य हैं। सूत्र, वार्तिक एवं भाष्य में कहीं संकेतों के माध्यम से और कहीं स्पष्ट शब्दों में इन पर विचार किया गया है। यही आठ पदार्थ *वाक्यपदीय* का भी विषय हैं। *पद्धति* टीका के आरम्भ में ही वृषभदेव कहते हैं कि आठ पदार्थों का निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है (अष्टौ पदार्था निरूप्यन्तेऽस्मिन् प्रकरणे – पृ. 2)। तृतीय काण्ड की टीका के प्रारम्भ में हेलाराज भी कहते हैं कि *वाक्यपदीय* आठ पदार्थों का विवेचन करता है जिनमें प्रथम काण्ड में प्रयोजन आदि विषयों का निर्णय हुआ, द्वितीय काण्ड में अन्वाख्येय शब्द और स्थितलक्षण अर्थ अर्थात् वाक्य एवं वाक्यार्थ का निर्णय हुआ है। तृतीय काण्ड का प्रारम्भ अपोद्धार रूप पद के विवेचन से होता है (इह पदार्थाष्टकविचारपरत्वाद् वाक्यपदीयस्य... अपोद्धारपदविचार: प्रक्रम्यते। – हेलाराजीय टीका, *वा.प.* III. i, पृ. 1)। अपोद्धृत पद के अर्थ (जाति, द्रव्य, कारक, क्रिया आदि) और संबन्ध पर भी तृतीय काण्ड में विचार किया गया है।

पाठ - 4

कारिका 27 - 45

27. शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥

अनु.:- शिष्टों से प्राप्त आगम-परम्परा से सिद्ध साधु शब्द धर्म के साधन हैं। अर्थ की प्रतीति कराने में भेद न होते हुए भी असाधु शब्द इसके विपरीत हैं।

व्या.:- 'विपरीताः' की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है--

(1) असाधु शब्द विपरीत हैं अर्थात् अधर्म के साधन हैं। यद्यपि अर्थ का ज्ञान साधु और असाधु शब्दों से समान रूप से होता है, फिर भी साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म की प्राप्ति होती है और असाधु शब्दों के प्रयोग से अधर्म की।

(2) वे शब्द जो विपरीत हैं, अर्थात् जो शिष्टपरम्परा से अनुमोदित नहीं हैं, वे असाधु शब्द हैं।

भर्तृहरि शिष्टपरम्परा को और आगम के प्रामाण्य को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हैं। आगम का अर्थ है शिष्टों की अविच्छिन्न परम्परा। *महाभाष्यदीपिका* (पृ. 8) में भर्तृहरि कहते हैं – पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च। वृषभदेव ने भी आगम को परिभाषित करते हुए कहा है – शिष्टानां यदिदमविच्छिन्नपारम्पर्यं स्मरणं स आगमः (*पद्धति*, पृ. 81)। शिष्ट कौन हैं? पतञ्जलि के मत में वैयाकरण शिष्ट हैं। *वा.प.* I. 43 में जब भर्तृहरि 'शिष्टों द्वारा साधुत्वविषया स्मृति' की रचना का उल्लेख करते हैं तो स्पष्ट है कि उनके मत में भाषा के विषय में पाणिनि आदि आचार्य प्रामाणिक हैं क्योंकि वे लोकप्रयोग से परिचित हैं। एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए पतञ्जलि बतलाते हैं कि आर्यावर्त में निवास करने वाले अपरिग्रही, निर्लोभ, निःस्वार्थ एवं विद्यावान् ब्राह्मण शिष्ट हैं –

एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः। –*म.भा.*, 6.3.109।

मनु के अनुसार जिन्होंने वेदाङ्ग एवं धर्मशास्त्र आदि सहित वेद का धर्मपूर्वक अध्ययन किया है वे शिष्ट ब्राह्मण श्रुति के अर्थ में प्रमाण हैं –

धर्मेणाभिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ –*मनुस्मृति*, 12.109.

मीमांसाभाष्यकार शबर कहते हैं कि शिष्टजन शास्त्र में स्थित हैं। लौकिक और वैदिक परम्परा में उनकी अविच्छिन्न स्मृति होती है, इसलिए श्रुति एवं स्मृति के अर्थ का निश्चय करने में वे ही निमित्त हैं (*मीमांसासूत्र* 1.3.9 पर *शाबरभाष्य*, पृ. 141)।

इस सबसे यह स्पष्ट है कि शिष्ट वे लोग हैं जो परम्परा एवं शास्त्र को जानते हैं और भाषा के स्वभाव एवं लोकप्रयोग से परिचित हैं। ऐसे व्यक्तियों का आचरण स्वभावतः ही धर्म के अनुसार होता है और उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अन्वाख्यान ही व्याकरण करता है। इसीलिए *वाक्यपदीय* के तृतीय काण्ड में भर्तृहरि कहते हैं कि व्याकरण-शास्त्र शिष्टों के लिए नहीं है, वह तो उन व्यक्तियों के लिए है जो भाषा के सही प्रयोग से परिचित नहीं हैं (*वा.प.*, 3.14.79-80)। ये शिष्टजन आचरण एवं प्रयोग में जो प्रतिमान निर्धारित करते हैं, अन्य जन उसी का अनुसरण करते हैं और वही धर्म माना जाता है। लौकिक और वेदविहित क्रियाओं को उचित रीति से करते हुए जब वे शिष्ट की पदवी को प्राप्त कर लेते हैं तो अन्य जो कुछ भी वे धर्मबुद्धि से करते हैं वह सब धर्मरूप ही है (*मीमांसासूत्र* 1.3.7 पर *तन्त्रवार्तिक*, पृ. 127)।

28. नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते॥

अनु.:- शब्द नित्य हों या कार्य, उनका आदि (प्रारम्भ) नहीं है। प्राणियों की नित्यता की भाँति यह (शब्दों की अनादिता) व्यवस्थानित्यता कहलाती है।

व्या.:- शब्दनित्यता के संबन्ध में भर्तृहरि यहाँ उस मत को भी साथ लेकर चल रहे हैं जिसके अनुसार शब्द का जब उच्चारण होता है तभी वे उत्पन्न होते हैं। यह व्याख्या *भर्तृहरि* के *सर्वग्राही* दृष्टिकोण के अनुसार ही है जिसके अनुसार व्याकरण सभी दर्शनों का सहायक है (देखें, *म.भा.दी.*, पृ. 28: न हीदं शास्त्रं कस्यचिदेकस्य सहायभूतं सर्वसाधारणम्)। यदि हम शब्द की परम नित्यता को स्वीकार न करें जिसके अनुसार 'शब्द नित्य हैं और उच्चारण में उन्हीं नित्य शब्दों की अभिव्यक्ति होती है' तब भी हमें उनकी नित्यता किसी न किसी रूप में स्वीकार करनी होगी। क्षणिकत्ववादी के अनुसार अविच्छिन्न प्रवृत्ति ही नित्यता है। इस दृष्टि से भी शब्द नित्य है क्योंकि ऐसा कोई समय निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता जब शब्द का व्यवहार नहीं था या जब शब्दव्यवहार नहीं होगा। नित्यप्रति प्राणियों का जन्म और मृत्यु होने पर भी जगत् को अनादि कहा जाता है क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं था जब प्राणिजगत् नहीं था अथवा प्राणियों के क्रिया-कलाप नहीं थे। इसी प्रकार शब्दव्यवहार की निरन्तरता के आधार पर शब्द की नित्यता माननी होगी। इसीलिए पतञ्जलि पस्पशाह्निक में कहते

हैं– ''वह भी नित्य है जिसमें तत्ता समाप्त नहीं होती (तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते)। 'तत्ता' का अर्थ है 'यह वही है', ऐसा बोध। विभिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न काल में उच्चारित होने पर भी 'यह वही शब्द है', ऐसा बोध होता ही है। इसे भर्तृहरि ने यहाँ व्यवस्थानित्यता कहा है। *वृत्ति* में इसे ***प्रवृत्तिनित्यता*** भी कहा गया है। *महाभाष्यदीपिका* (प्रथम आह्निक) में ***भर्तृहरि*** इसे व्यवहारनित्यता कहते हैं और कैयट ने पस्पशा. पर अपने *महाभाष्यप्रदीप* में इसे ही प्रवाहनित्यता कहा है। इस विषय में चर्चा हम 23वीं कारिका की व्याख्या में भी कर चुके हैं।

कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार 'व्यवस्थानित्यता' समास न होकर दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। तब कारिका का अर्थ इस प्रकार होगा - शब्द नित्य हों या कार्य, प्राणियों की भाँति उनका आदि (प्रारम्भ) नहीं है। यह व्यवस्था भी नित्यता कहलाती है ***(साचएपाव्यवस्था नित्यताउच्यते))।***

29. नानर्थिकामिमां कश्चिद् व्यवस्थां कर्तुमर्हति।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः॥

अनु.:- कोई भी व्यक्ति बिना प्रयोजन के (शब्दों के साधुत्व की) इस व्यवस्था का निर्माण नहीं करेगा। (क्योंकि यह व्यवस्था सार्थक है) इसीलिए शिष्टों द्वारा साधुत्व से संबन्धित इस (व्याकरण) स्मृति की रचना की जाती है।

व्या.:- जब साधु शब्दों और अपशब्दों, दोनों से ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है तो शिष्ट-परम्परा का क्या उपयोग है? नियमन की यह व्यवस्था निरर्थक नहीं हो सकती अन्यथा व्याकरण की इस अत्यन्त कठिन व्यवस्था की रचना कोई करेगा ही क्यों? यदि कोई करे भी तो अन्य शिष्टजन इसे स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए यह स्पष्ट है कि यह व्यवस्था सार्थक है। इस व्यवस्था का प्रयोजन अर्थज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अर्थबोध तो अपशब्दों से भी होता है। अतः साधु शब्द धर्म के साधन हैं, ऐसा नियमन ही इस व्यवस्था का उद्देश्य हो सकता है। क्योंकि यह व्यवस्था प्रयोजनमूलक है, अतः इसे स्मृति में सुरक्षित करने के लिए व्याकरण के नियम बनाए जाते हैं। व्याकरण द्वारा ही हम जान पाते हैं कि कौन लोग शिष्ट की पदवी के अधिकारी हैं। जो लोग स्वभावतः ही व्याकरणसंमत शब्दों का प्रयोग करते हैं वे अन्य भी जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं उन्हें शिष्टप्रामाण्य के आधार पर साधु ही माना जाता है। इसीलिए *अष्टा.* 6.3.109 (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्) के भाष्य में पतञ्जलि कहते हैं - ''शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी।'' *पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदि शिष्टजन* शब्दों के सही प्रयोग से परिचित हैं *(अन्यत्र भर्तृहरि उन्हें प्रयोगज्ञ* भी कहते हैं, देखें *वा.प.*, 3.14.43) अतः वे इस व्याकरण-स्मृति की रचना करते हैं। यह व्याकरणस्मृति अनादि काल से अविच्छिन्न परम्परा द्वारा चली आ रही है। पाणिनि, शाकल्य, शाकटायन आदि स्मर्ता (स्मृति के रचयिता) आचार्यों की एक लम्बी परम्परा पूर्व-पूर्व व्याकरणों के लुप्त होने पर उन्हीं के आधार पर इसकी रचना करती रही है, इसलिए इसे स्मृति कहा गया है।

30. न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्॥

अनु.:- आगम के बिना केवल तर्क से धर्म का निश्चय नहीं किया जा सकता। ऋषियों का ज्ञान भी आगममूलक ही है।

व्या.:- यहाँ भर्तृहरि एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं और वह यह है कि धर्म-विषयक व्यवस्था मात्र तर्क के आधार पर नहीं दी जा सकती। साधु-असाधु शब्दों की व्यवस्था को निबद्ध करने वाली व्याकरण-स्मृति आगममूलक है क्योंकि यह अविच्छिन्न शिष्ट-परम्परा पर आधारित है। पूर्व आचार्यों द्वारा निबद्ध इस परम्परा को ही परवर्ती आचार्यों ने आगे बढ़ाया है। इसी संदर्भ में भर्तृहरि कहते हैं कि आगम ही धर्म के विषय में प्रमाण है। प्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में भी कितनी भ्रान्तियाँ संभव हैं यह भर्तृहरि द्वितीय काण्ड में स्पष्ट करते हैं। आकाश हमें तल से युक्त और नीला दिखाई देता है और जुगनू में अग्नि दिखाई देती है। ये दोनों भ्रम के उदाहरण हैं –

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न चैवारित तलं व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः॥ – *वा.प.*, 2.140

ऐसी स्थिति में धर्म जैसे अदृष्ट विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमाएँ समझना कठिन नहीं। इसलिये भर्तृहरि इस विषय में आगम को प्रमाण मानते हैं। इसी काण्ड में आगे भी वे कहते हैं कि अदृष्ट फल वाले कर्मों का ज्ञान सभी लोग आगम से ही प्राप्त करते हैं–

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते – *वा.प.*, 1. 140

जैसा कारिका 27 में स्पष्ट कर चुके हैं, अविच्छिन्न परम्परा ही आगम है। यह आगम श्रुति और स्मृति के रूप में है। ऋषियों ने श्रुति के साक्षात्कार द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया उसे गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा परवर्ती ऋषियों को प्रदान किया जो श्रुति और स्मृति के रूप में विद्यमान है। इस प्रकार ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक ही है। आगम द्वारा उपदिष्ट धर्म का अभ्यास करते हुए ही उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से यह ज्ञान प्राप्त किया है और उसी परम्परा में वे उस ज्ञान को अपने परवर्तियों को देते हैं। इस प्रकार ज्ञान की यह परम्परा अविच्छिन्न है। *केनोपनिषद्* में कहा गया है – इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।

किन्तु इस संदर्भ में किसी एक परम्परा के प्रति आग्रह न रखते हुए भर्तृहरि भिन्न-भिन्न परमराओं को अपने सिद्धान्त के परिष्कार

के लिए आवश्यक मानते हैं। इसीलिये द्वितीय काण्ड के अन्त में (*वा.प.*, 2. 484) वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न आगमों के सिद्धान्त से हमारी बुद्धि विवेक को प्राप्त करती है–

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।

आगम से रहित शुष्क तर्क से धर्म का निश्चय नहीं हो सकता। आगे की कुछ कारिकाएँ इसी तथ्य की व्याख्या करती हैं।

31. धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात्कश्चित्तर्केण बाधते॥

अनु.:- धर्म के जो मार्ग बिना किसी व्यवच्छेद के प्राप्त हुए हैं वे लोक में स्वीकृत हैं, अतः तर्क से उन्हें कोई बाधित नहीं कर सकता।

व्या.:- शास्त्रों में भी कहीं-कहीं परस्पर विरोध दिखलाई पड़ते हैं; फिर आगम-परम्परा का निश्चय कैसे हो? इसके उत्तर में भर्तृहरि मानते हैं कि अविच्छिन्न शिष्टपरम्परा लोक-स्मृति में सुरक्षित रहती है। शिष्टजनों के सिद्धान्तों में परस्पर भिन्नता होने पर भी कुछ ऐसे आचरण हैं जो सर्वजनस्वीकृत हैं। ये आचरण लोक-परम्परा से चले आ रहे हैं और इनके विरुद्ध जाने वाले को लोक में निन्दनीय माना जाता है। तर्क से इस प्रकार के आचरण का समर्थन नहीं हो सकता। कभी-कभी कुछ लोग शास्त्र का अपव्याख्यान करके भी अपने अनुचित आचरण के पक्ष में तर्क देने का प्रयास करते हैं किन्तु लोक में ऐसे तर्क स्वीकार नहीं किये जाते। उदाहरण के लिए, यदि आत्मा की अमरता का तर्क देकर कोई व्यक्ति हत्या के प्रयास को सही ठहराने लगे तो यह बात लोक में कभी स्वीकृत न होगी। अतः आगम के सही अर्थ को जानने के लिए लोकप्रसिद्धि भी एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। इसीलिए कहा भी गया है - 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं न हि करणीयम्।' व्याकरण में भी शब्द-साधुत्व की व्यवस्था लोकप्रयोग एवं शिष्टप्रयोग के आधार पर ही चलती है।

32. अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा॥

अनु.:- अवस्था, स्थान और काल के भेद से पदार्थों की शक्तियों में भेद होने के कारण अनुमान प्रमाण से उन पदार्थों के स्वरूप का निश्चय अत्यन्त कठिन है।

व्या.:- लौकिक तथ्यों के आधार पर भर्तृहरि यहाँ अनुमान की अपर्याप्तता को प्रदर्शित कर रहे है। हेतु के आधार पर, ***व्याप्ति-प्रदर्शन*** द्वारा, तार्किक ढंग से किसी तथ्य की सिद्धि अनुमान है। किन्तु अपने दैनन्दिन अनुभव में ही हम देखते हैं कि पदार्थों के स्वभाव और उनकी शक्तियाँ अनेक कारणों से परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए अनेक अवसरों पर व्याप्ति हमें किसी निश्चय पर नहीं पहुँचाती। शान्तरक्षित के *तत्त्वसंग्रह* पर अपनी *पञ्जिका* टीका में कमलशील ने यह और अगली दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। इस संदर्भ में वे अवस्थाभेद का उदाहरण देते हुए बतलाते हैं कि हम इस प्रकार का अनुमान नहीं कर सकते, ''देवदत्त भार उठाने में असमर्थ है क्योंकि वह देवदत्त है जैसे बाल-अवस्था में विद्यमान देवदत्त।'' कारण यह, कि अवस्था के परिवर्तन के साथ देवदत्त भार उठाने की सामर्थ्य अर्जित कर चुका है। इसी प्रकार औषधियों की सामर्थ्य भी अवस्थाभेद से बदल जाती है। पीपर आर्द्रावस्था में कफ उत्पन्न करती है और सूखी होने पर बात-पित्त-कफ को दूर करती है। स्थानभेद से भी पदार्थों की शक्ति बदल जाती है। जल स्वभावतः शीतल होता है किन्तु उष्णजल के कुण्ड में शीत ऋतु में भी गर्म जल पाया जाता है। भिन्न-भिन्न स्थानों के फलों (जैसे आम) के स्वाद में भी अन्तर देखा जाता है। समय के भेद से भी वस्तुओं की सामर्थ्य में भेद देखा जाता है। कुँए का जल ग्रीष्म में शीतल और हेमन्त में गर्म होता है। मात्र अनुमान से इन सूक्ष्म भेदों का निरूपण संभव नहीं। शंकर बतलाते हैं कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है', यह प्रसिद्ध अनुमान भी बाधित हो सकता है क्योंकि ग्वालों के द्वारा पात्र (गोपालघुटिका) में रखी गई अग्नि के बुझने पर भी धुआँ उस पात्र में सुरक्षित रहता है - उद्वापितेऽप्यग्नौ गोपालघुटिकादिधारितस्य धूमस्य दृश्यमानत्वात् (*ब्रह्मसूत्र* 2.1.15 पर *शां.भा.*)। वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान आगम से ही संभव होता है। उदाहरण के लिए, औषधियों की सामर्थ्य का ठीक-ठीक ज्ञान *चरकसंहिता* आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। तो फिर धर्म और अधर्म जैसे विषयों का ज्ञान, जो मानवीय बुद्धि की सीमा से परे हैं, आगम की सहायता के बिना कैसे संभव है? इसी बात को भर्तृहरि प्रकारान्तर से अगली कारिका में स्पष्ट कर रहे हैं–

33. निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसंबन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते॥

अनु.:- अपने अनुरूप भिन्न-भिन्न क्रियाओं में जानी-पहचानी सामर्थ्य वाले द्रव्य की वह सामर्थ्य भी विशिष्ट द्रव्य के संबन्ध से बाधित हो जाती है।

व्या.:- एक पदार्थ के संदर्भ में किसी द्रव्य की जो शक्ति है, वह अन्य पदार्थ के संदर्भ में दिखलाई नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए, अग्नि की दाहकता बादलों के संदर्भ में बाधित हो जाती है। बिजली की करंट देने की शक्ति प्लास्टिक में बाधित हो जाती है। इसी प्रकार औषधि-विशेष का लेप लगाकर लोग बिना जले अंगारों पर चल लेते हैं। इसीलिए शंकराचार्य भी अपने भाष्य में कहते हैं कि लौकिक पदार्थों के संबन्ध में भी उनकी शक्तियाँ परस्पर विरोधी कार्य करती देखी जाती हैं। उपदेश के बिना केवल तर्क से उनका ज्ञान संभव नहीं। फिर ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण तो तर्क से हो ही कैसे सकता है जो चिन्तन की सीमा से परे है? इसी संदर्भ में वे पौराणिकों का एक वचन

उद्धृत करते हैं कि अचिन्त्य स्वभाव वाले पदार्थों में तर्क का प्रयोग नहीं करना चाहिए – ''तथा चाहुः पौराणिकाः – अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'' (ब्रह्मसूत्र 2.1.27 पर शांकरभाष्य)।

34. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥

अनु.:- तर्क में कुशल व्यक्तियों द्वारा अनुमान प्रमाण द्वारा प्रयासपूर्वक सिद्ध किया गया विषय उनसे अधिक निपुण व्यक्तियों द्वारा सर्वथा भिन्न रूप में स्थापित किया जाता है।

व्या.:- केवल तर्क से सत्य को नहीं जाना जा सकता। शास्त्र एवं परम्परा की सहायता के बिना तार्किकों द्वारा स्थापित विषय अनेक अवसरों पर कल्पना की उड़ान सिद्ध होता है। अत्यन्त कुशल तार्किक जिसे हेतु के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वही उनसे अधिक कुशल विद्वानों द्वारा हेत्वाभास सिद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार तर्क का कहीं अन्त नहीं है। भर्तृहरि अपनी *वृत्ति* में वैशेषिकों के उस निष्कर्ष का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार गुण और द्रव्य स्वतन्त्र पदार्थ हैं क्योंकि गुण द्रव्य का विशेषण है। किन्तु अनेक अवसरों पर ऐसे पदार्थों में भी विशेषण-विशेष्य-भाव पाया जाता है जो परस्पर अभिन्न हैं। उदाहरण के लिए 'ऋचः पदम्' (ऋचा का पद) में 'ऋचा' पद का विशेषण है यद्यपि पद ऋचा से भिन्न नहीं है; पद ही ऋचा है। इसी प्रकार 'आमों का वन', इस शब्दखंड में आम के वृक्ष वन का विशेषण हैं यद्यपि वन उनसे भिन्न नहीं है।

कठोपनिषद् (1.2.8) के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि यदि कोई तर्क के आधार पर आत्मा को अणु-परिमाण वाला सिद्ध करे तो दूसरा उससे भी अणु और कोई तीसरा उस आत्मा को उससे भी अणु स्थापित कर देगा क्योंकि कुतर्क की कोई सीमा नहीं है। इसीलिए उपनिषद् (क.उ.1.2.8) में आत्मा को अतर्क्य कहा है। ब्रह्मसूत्र (2.1.11 –तर्काप्रतिष्ठानात् ...) पर *शांकरभाष्य* में तर्क की अपर्याप्तता पर विस्तृत चर्चा की गई है। इसकी कुछ पंक्तियों पर भर्तृहरि की प्रस्तुत कारिका का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है – तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम् पुरुषमतिवैरूप्यात्।

इस समस्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि भर्तृहरि तर्क को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि प्रत्यक्ष अर्थ पर भी विद्वान् द्वारा युक्तिपूर्वक विचार किया जाना चाहिए (तस्मात्प्रत्यक्षमप्यर्थं विद्वानीक्षेत युक्तितः –*वा.प.*, 2.141)। किन्तु जहाँ आगम और तर्क के बीच चुनाव का प्रश्न है, वहाँ भर्तृहरि आगम को ही प्रमाण मानते हैं। इसलिए वे ब्रह्मकाण्ड (127) में ही कहते हैं कि वेद और शास्त्र का अविरोधी तर्क हमारा सहायक है क्योंकि शास्त्र के वाक्यों का निर्णय उसी की सहायता से किया जाता है।

35. परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम्॥

अनु.:- रत्नपरीक्षकों एवं सोने-चाँदी के सिक्कों की पहचान रखने वालों का तत्संबन्धी ज्ञान, जो दूसरों को बतलाना संभव नहीं, अभ्यास से ही उत्पन्न होता है, यह ज्ञान अनुमानजन्य नहीं।

व्या.:- रत्नों को देखकर जौहरी उनके मूल्य का आकलन तुरन्त कर लेते हैं। विशेषज्ञ जन सोने-चाँदी को कसौटी पर कसकर उनके खरे-खोटे होने का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु यदि उनसे इसकी व्याख्या करने को कहा जाए तो वे दूसरे व्यक्ति को यह समझा नहीं सकेंगे कि अमुक-अमुक कारणों से इस सोने की शुद्धता शत-प्रतिशत है या अस्सी प्रतिशत पहचानी गई है, आदि। संगीत के स्वरों (सा, रे, गा आदि) का भेद भी सामान्य व्यक्ति की पकड़ में नहीं आता भले ही वह ध्यानपूर्वक उन्हें सुन रहा हो, जबकि विज्ञ जनों को सुनते ही उसका ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान प्रत्यक्ष एवम् अनुमान से परे है और यह आगमिक भी नहीं।

तो क्या भर्तृहरि यहाँ अभ्यास को पृथक् प्रमाण के रूप में उपस्थापित कर रहे हैं? पं. सूर्यनारायण शुक्ल एवं पं. रघुनाथ शर्मा का मत ऐसा ही है। उनके अनुसार, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के बाद अभ्यास चौथा प्रमाण है। किन्तु हमारे विचार में यहाँ भर्तृहरि मात्र इस तथ्य को रेखांकित कर रहे हैं कि धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से नहीं हो सकता। अनेक विषय ऐसे हैं जिनकी व्याख्या संभव नहीं। भर्तृहरि यहाँ अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान पर जोर दे रहे हैं जिसे वे प्रतिभा भी कहते हैं। कालिदास भी कहते हैं कि संदेह के विषयों में अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं (सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः –*अभिज्ञानशाकुन्तलम्*, 1.21)। एक अन्य प्रसंग में भर्तृहरि अभ्यास की गणना प्रतिभा के कारकों में करते हैं (*वा.प.*, II. 152)। इससे भी ऐसा लगता है कि वे यहाँ भी प्रातिभ ज्ञान की चर्चा कर रहे हैं। जब लौकिक अनुभव में भी प्रतिभा अभ्यास आदि से संस्कारित होकर ऐसा ज्ञान देती है जिसकी व्याख्या सामान्य रूप में नहीं की जा सकती तो अलौकिक विषयों के संबन्ध में तो कहना ही क्या! इसलिए भर्तृहरि आगे कहेंगे कि ऋषियों के ज्ञान की व्याख्या सामान्य सांसारिक अनुभव द्वारा नहीं हो सकती। रत्नपरीक्षकों के इस दृष्टान्त का उपयोग कुमारिल ने भी किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार परीक्षक काँच और स्फटिक से मिश्रित पद्मराग आदि मणियाँ पहचान लेते हैं उसी प्रकार विज्ञजन शब्द के साधुत्व को जानते हैं –

यथा च पद्मरागादीन्काचस्फटिकमिश्रितान्।
परीक्षका विजानन्ति साधुत्वमपरे तथा।। (मी.सू. 1.3.27 पर *तन्त्रवार्तिक*, पृ. 219)

36. प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः।।

अनु.:- पितरों, राक्षसों एवं पिशाचों की सिद्धियाँ, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से परे हैं, (पूर्वजन्म के) कर्मों द्वारा ही प्राप्त हुई हैं।

व्या.:- बहरे लोगों को भी स्वप्न में शब्द सुनाई पड़ते हैं। जन्म से ही जो बहरे हैं उनमें यह कैसे संभव हो पाता है? अनेक व्यक्तियों को ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं कि वे दीवारों के पार भी देख सकते हैं, अथवा हवा में से कोई वस्तु उत्पन्न कर सकते हैं। इन सिद्धियों की व्याख्या तर्क से नहीं की जा सकती। इसलिए, स्पष्ट है कि ये उनके पूर्वजन्म के कर्मों अर्थात् अदृष्ट का ही परिणाम हैं। इस प्रकार भर्तृहरि ने यहां प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमाओं को रेखांकित किया है। पं. गंगानाथ शर्मा के मत में यहाँ 'अदृष्ट' नामक प्रमाण को स्वीकार किया गया है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और अभ्यास के अतिरिक्त पाँचवां प्रमाण है।

37. आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते।।

अनु.:- जिन (शिष्टजनों) में ज्ञान के प्रकाश का आविर्भाव हो चुका है और जिनका चित्त दोषों से मुक्त है, उनका भूत और भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है।

व्या.:- शिष्टजनों का भूत और भविष्य का ज्ञान भी प्रत्यक्षवत् ही है क्योंकि उनकी सभी अशुद्धियाँ (उपप्लव) तपस्या द्वारा समाप्त हो चुकी हैं और उनका ज्ञान सब प्रकार के आवरणों से मुक्त है। चित्त की अशुद्धियाँ समाप्त हो जाने के कारण उनके ज्ञान की सभी उपाधियाँ हट जाती हैं और वे प्रत्येक विषय को हाथ में रखे हुंए आँवले की भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। नैयायिक इसे अलौकिक प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखते हैं। लिङ्गसमुद्देश (*वा.प.*, 3.13.21) की टीका में हेलाराज कहते हैं कि वस्तु के तत्त्व का साक्षात्कार (वस्तुपरमार्थसाक्षात्कारिता) शिष्टों का लक्षण है। इसलिए जो ज्ञान हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से प्राप्त नहीं कर सकते उसे शिष्टपरम्परा के प्रामाण्य से जानते हैं। इसीलिए आप्त की परिभाषा करते हुए *चरकसंहिता* (सूत्रस्थान, अध्याय 11.18.19) में कहा गया है कि आप्त वे हैं जिनका ज्ञान तीनों कालों में निर्मल एवम् अबाधित है और जो तप और ज्ञान द्वारा रजस् और तमस् से मुक्त हो चुके हैं–

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये।
येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।
आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते.................

38. अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।।

अनु.:- इन्द्रियों से और मन से ज्ञात न होने वाले पदार्थों को भी जो ऋषि अपनी दिव्य दृष्टि से देख लेते हैं, उनका कथन अनुमान प्रमाण से बाधित नहीं हो सकता।

व्या.:- अनेक विषय ऐसे हैं जिनका ज्ञान न तो बाह्य पदार्थों की भाँति इन्द्रियों द्वारा हो सकता है और न ही सुख-दुःख की भाँति मन से अनुभव किया जाता है। आत्मा, शब्दब्रह्म, कर्मफल, सूक्ष्म शरीर, देव-गन्धर्व आदि जैसे विषय इसी श्रेणी में आते हैं। इसीलिए *कठोपनिषद्* (1.2.9) में कहा गया है कि आत्मविषयक ज्ञान तर्क द्वारा प्राप्य नहीं है –

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

आत्मा का ज्ञान शारीरिक या बौद्धिक गतिविधियों के द्वारा हो ही नहीं सकता। इसके लिए हमें प्रमाणभूत जनों के वचनों पर ही विश्वास करना होता है। ये वचन शास्त्र से अथवा वाचिक परम्परा से जाने जाते हैं। जातिसमुद्देश (*वा.प.*, 3.1.46) में भर्तृहरि कहते हैं कि शिष्टजनों का ज्ञान हमारी अपेक्षा विशिष्ट है और किसी इन्द्रियविशेष पर आश्रित नहीं है–

ज्ञानं त्वस्मद्विशिष्टानां तासु सर्वेन्दियं विदुः।

इसलिए भर्तृहरि ऐसे अनुमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते जो शिष्टवचनों अथवा आगम के विरुद्ध हो। आगम द्वारा ज्ञेय विषय में अनुमान बाधक नहीं हो सकता क्योंकि मात्र मानवीय बुद्धि के बल पर की गई मनमानी कल्पनाएँ कभी सत्य तक नहीं पहुँचा सकतीं।

39. यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्।।

अनु.:- उस व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति कैसे विपरीत मार्ग पर प्रवृत्त कर सकता है जो किसी के दर्शन को अपने ही अनुभव की भाँति मान कर उस पर शंका नहीं करता और जो इस प्रकार प्रत्यक्ष के पक्ष पर स्थित है!

व्या.:- प्रश्न उठता है कि ऋषियों का वचन तो अनुमान द्वारा बाधित नहीं होता किन्तु उनके वचनों को प्रमाण मान कर जो लोग अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं उनकी क्या स्थिति है। उनके बारे में भी स्पष्ट करते हैं कि ऐसे लोग ऋषियों के प्रामाण्य के आधार पर जो मार्ग अपना चुके हैं, उससे उन्हें हटाना संभव नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष देखे हुए पर संदेह नहीं करता, ऐसे ही किसी आप्त पुरुष के ज्ञान को भी वे अपना प्रत्यक्ष मान चुके हैं। ऐसे व्यक्ति को दूसरा व्यक्ति अनुमान अथवा तर्क द्वारा अपनी ओर नहीं खींच सकता। व्यक्ति स्वयं देखे हुए प्रत्यक्ष पर सर्वाधिक विश्वास करता है। आप्त प्रमाण के आधार पर प्राप्त ज्ञान को भी वह अपने प्रत्यक्ष की भाँति अशंकनीय मानता है। प्रत्येक शाखा में, प्रत्येक विद्या में कुछ लोग ऐसे अवश्य मिलते हैं जो आप्त पुरुष हैं। जैसा-जैसा ये आप्त पुरुष कहते हैं उसे उसी प्रकार से मान लिया जाता है। जैसे यह बात कि अमुक कर्म अगले जन्म में अच्छा फल देते हैं और अमुक कर्म बुरा फल देते हैं; या यह बात कि मृत्यु के बाद भी कर्म का फल अवश्य मिलता है। ये बातें आप्त पुरुषों के प्रामाण्य पर ही स्वीकार की जाती हैं। इसमें लोग शास्त्र-वचनों की खोज नहीं करते।

ऐसे आप्त पुरुषों का वचन शिष्ट-परम्परा का अनुसरण करता है इसलिए उसे अनुमान द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता।

अगली कारिका में स्पष्ट करते हैं कि सभी व्यक्ति तो शास्त्र का अध्ययन नहीं करते। शास्त्र के उद्धरणों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ तो वे कर ही नहीं सकते। उन्हें पुण्य और पाप का ज्ञान केवल शिष्ट-परम्परा के आधार पर और आप्त पुरुषों के वचनों के आधार पर होता है। इसलिए ऋषियों का ज्ञान अथवा शिष्ट-परम्परा किसी अन्य प्रमाण पर आधारित नहीं है। वह तो स्वतः प्रमाण है। उसकी प्रामाणिकता के लिए शास्त्र इत्यादि की भी आवश्यकता नहीं होती। परम्परा ही मनुष्य को पुण्य और पाप का ज्ञान करा देती है :

40. इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥

अनु.:- यह पुण्य है, यह पाप है, इन (पाप-पुण्य के) दो प्रकार के शब्दों में चण्डालपर्यन्त मनुष्यों के लिए शास्त्र का प्रयोजन अल्प ही है।

व्या.:- सत्य-भाषण, दया, दान इत्यादि से पुण्य होता है, चोरी करने, दूसरों को कष्ट पहुँचाने इत्यादि से पाप होता है, इस सब का ज्ञान व्यक्ति शास्त्र के बिना भी कर लेता है। इस ज्ञान के लिए उसे शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती। यह सब उसे शिष्ट-परम्परा से ही ज्ञात होता है। इस प्रकार जो लोग कहते हैं कि "शास्त्र के वचन तो *प्रामाणिक* नहीं हैं क्योंकि उनमें परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं और उनकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ संभव हैं", उनके प्रति भर्तृहरि स्पष्ट कहते हैं कि जन-सामान्य को शास्त्र की व्याख्याओं की आवश्यकता ही नहीं होती। यह तो शिष्ट-परम्परा अर्थात् आगम के आधार पर तथा आप्तोपदेश के आधार पर अपना कर्तव्य-अकर्तव्य जान लेता है, चाहे वह किसी भी जाति का हो, ब्राह्मण हो या चाण्डाल हो। इसलिए अनुमान को बहुत अधिक महत्त्व देना व्यर्थ है।

यह कारिका कुमारिल भट्ट, जयन्त भट्ट एवं अभिनवगुप्त ने व्यास के नाम से उद्धृत की है। अभिनवगुप्त स्पष्ट करते हैं कि मुनि के इस वचन को आगम-प्रामाण्य की दृढ़ता के लिए भर्तृहरि ने उद्धृत किया है।

41. चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते॥

अनु.:- चैतन्य की ही भाँति जो आगम अविच्छिन्न रूप में विद्यमान है उसका आश्रय लेने वाला व्यक्ति विभिन्न प्रकार के तार्किक वादों से विचलित नहीं होता।

व्या.:- जिस प्रकार से चैतन्य नित्य है और अविच्छिन्न है उसी प्रकार आगम भी नित्य है और अविच्छिन्न परम्परा से चला आ रहा है। चैतन्य की नित्यता तो इससे सिद्ध है कि "मैं हूँ" इत्यादि प्रकार की चेतना सदा से है। यदि कोई कहे भी कि "मैं" "मेरा" आदि सब मिथ्या है तब भी आत्म-चैतन्य का नाश नहीं होता। "मैं हूँ" इस ज्ञान के अनन्तर "मैं हूँ या नहीं?" ऐसा संदेह, अथवा "मैं हूँ ही नहीं" ऐसा विपर्यय-ज्ञान कभी नहीं होता। उसी प्रकार श्रुति एवं स्मृति के रूप में विद्यमान आगम भी अनादि परम्परा से स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। कोई भी व्यक्ति न तो इसमें शंका करता है, न ही इसका उल्लंघन करता है। जो व्यक्ति इस आगम पर विश्वास करता है उसे तार्किक वादों द्वारा विचलित करना संभव नहीं। तर्कवादों से प्रभावित होकर वह आगम पर से विश्वास नहीं खो देता। इससे सिद्ध होता है कि आगमों की प्रामाणिकता तर्क के अधीन नहीं, अपितु उससे परे है। इस प्रकार आगम स्वतः प्रमाण है। इस आगम-परम्परा का अनुसरण करने वाला मनुष्य सदा उचित मार्ग पर चलता है और इसलिए लोक में निन्दा का पात्र नहीं बनता।

जो व्यक्ति अनुमान पर अत्यधिक आश्रित है उसका पतन तो बड़ी सरलता से हो जाएगा; इस बात को कहते हैं:

42. हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः॥

अनु.:- हस्तस्पर्श के द्वारा दुर्गम मार्ग पर भागते हुए अन्धे व्यक्ति की भाँति अनुमानप्रधान व्यक्ति का पतन दूर नहीं।

व्या.:- जैसे कोई अन्धा व्यक्ति एक मार्ग पर चलने के बाद किसी दूसरे दुर्गम मार्ग को भी वैसा ही समतल मानकर केवल हाथों से टटोल कर तेजी से चलने लगे तो उसके गिरने के अवसर बहुत अधिक हैं, उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति एक विषय में प्रत्यक्ष देखे हुए की

भाँति अनुमान से किसी दूसरे विषय को भी वैसा ही मानकर आचरण करे तो वह प्रत्यवाय का भागी अवश्य होगा। आगमरूपी नेत्र का आश्रय लिये बिना केवल तर्क से चलने वाले व्यक्ति का पतन निश्चित है। यहाँ दुर्गम मार्ग से तात्पर्य ऐसे विषयों से है जो प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा ज्ञेय नहीं हैं। *भगवद्गीता* (4.39-40) में भी कहा है कि श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है जबकि संशयशील व्यक्ति को न यह लोक मिलता है न परलोक – *नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।*

भाषा के संदर्भ में देखें तो व्याकरण भी एक स्मृति है जिसमें शिष्ट-परम्परा के आधार पर साधु शब्दों के ज्ञान को निबद्ध किया गया है। उसके आधार पर हम शब्दों का सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अब, यदि 'अग्नये स्वाहा' की भाँति अनुमान से 'वायये स्वाहा' भी कहने लगें तो लोक में भी उपहास होगा और प्रत्यवाय की भी प्राप्ति होगी। व्याकरण को केवल अनुमान के आधार पर नहीं जाना जा सकता।

43. तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्॥

अनु.:- इसलिए अपौरुषेय शास्त्र (अर्थात् वेद) और प्रामाणिक स्मृतियों का आश्रय लेकर शिष्टों के द्वारा शब्दों का अनुशासन प्रारम्भ किया जाता है।

व्या.:- आगम और शास्त्रपरम्परा तर्क अथवा अनुमान की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं, यह पिछली अनेक कारिकाओं में स्पष्ट किया गया। अनेक स्थलों पर अनुमान विफल हो जाता है और शास्त्र अथवा शिष्टपरम्परा के आधार पर ही निर्णय लेना होता है। शास्त्र आगमपरम्परा का उपनिबन्धन (रिकार्ड) है और उन लोगों के प्रत्यक्ष का भी जिनका ज्ञान विशिष्ट कोटि का है। शास्त्र की इस अनिवार्यता को देखकर ही व्याकरण-शास्त्र की रचना की गई है। शब्दों का अध्ययन ऐसे शास्त्र के माध्यम से किया जाता है जो अकृतक अर्थात् अपौरुषेय है (जैसे वेद) और जो निबन्धनयुक्त स्मृति है अर्थात् वेद इत्यादि पर आधारित है (निबन्धन का अर्थ है मूल, निबध्यते अनेन इति निबन्धनम्; स्मृति सनिबन्धना है अर्थात् वेदमूलक है और शिष्टपरम्परामूलक है)। पाणिनि और कात्यायन जैसे आचार्यों ने वेद को प्रमाण मानकर तथा कहीं पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित नियमों एवं कहीं शिष्टप्रयोग को आधार बनाकर शब्दानुशासन को प्रारम्भ किया है। जहाँ दो प्रकार के शब्दरूपों में विरोध दिखलाई पड़ा वहाँ आचार्य विकल्प स्वीकार करते हैं। 'लोपः शाकल्यस्य', 'अवङ् स्फोटायनस्य' जैसे सूत्रों के माध्यम से पाणिनि ने विकल्प का विधान किया है। समय-समय पर बदलते हुए शब्दप्रयोग को भी व्याकरण में मान्यता दी गई है। वृषभदेव (पद्धति, पृ. 100) बतलाते हैं कि 'न्यङ्कु' से अण् प्रत्यय करने पर प्राचीन आचार्य 'न्याङ्कवम्' को शुद्ध मानते थे किन्तु वर्तमान में 'नैयङ्कवम्' ही साधु है। इस प्रकार शास्त्र द्वारा साधु-असाधु शब्दों की व्यवस्था की गई है।

44. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

अनु.:- शब्द के ज्ञाता वाचक शब्दों में दो शब्द स्वीकार करते हैं। एक, शब्दों का निमित्त है और दूसरा अर्थ (की अभिव्यक्ति) में प्रयुक्त होता है।

व्या.:- वृषभदेव के अनुसार वाक्यपदीय के मुख्य विषय का आरम्भ इसी कारिका से होता है (द्वावुपादानशब्देषु इत्यतः प्रभृति प्रकरणं प्रवर्तिष्यते –पद्धति, पृ.1)। इससे पूर्व की कारिकाएँ उपोद्घात थीं जिनमें शब्दब्रह्म, व्याकरण के महत्त्व और आगम-प्रामाण्य आदि की चर्चा की गई। अब वाचक शब्द के स्वरूप का विवेचन आरम्भ करते हैं, और आगे की कुछ कारिकाएँ प्रस्तुत कारिका की व्याख्या के रूप में भी देखी जा सकती हैं।

उपादान का अर्थ है – वाचक शब्द (उपादानो वाचकः –पद्धति, पृ. 100) जो अर्थ के साथ मानो तादात्म्य को प्राप्त हो चुका है (उपादीयते येन अर्थः –वृत्ति)। शब्द अर्थ के साथ एकीभूत होकर हमारी चेतना में समाहित हो जाता है, इसीलिए शब्द को अर्थ पर अध्यारोपित कर हम घट पदार्थ के लिए 'यह घट है', इस प्रकार शब्द का प्रयोग करते हैं।

भर्तृहरि यहाँ शब्द के दो स्तर स्वीकार करते हैं जिनका संकेत महाभाष्यकार ने भी पस्पशा. में किया है। ये दो स्तर हैं : ध्वनि अथवा अभिव्यञ्जक शब्द और बुद्धिस्थ अर्थात् प्रत्यायक शब्द।

वक्ता जब अर्थ को संप्रेषित करना चाहता है तो वह शब्द का प्रयोग करता है। शब्द वक्ता के मानस में एकात्मक रूप में स्थित है जिसे वैयाकरणों ने स्फोट कहा है। यह शब्द निरवयव रूप में अर्थ से जुड़ा हुआ है। यदि स्फोट अर्थात् निरवयव शब्द को अर्थ का वाचक न मानें तो ध्वनियों को वाचक मानना होगा। किन्तु, ध्वनियों अथवा वर्णों का समूह अर्थ का वाचक नहीं हो सकता; अन्यथा कूप, सूप, यूप जैसे शब्दों में 'ऊप' तो समान है किन्तु उससे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार नदी-दीन, राज-जरा में समान वर्ण होते हुए भी अर्थ सर्वथा भिन्न है। इसलिए यह मानना होगा कि एकात्मक शब्द ही अर्थ का वाचक है। यह बुद्धिस्थ शब्द अर्थात् स्फोट ध्वनियों को अपना माध्यम बनाता है और उनके द्वारा अभिव्यक्त होकर अर्थ को व्यक्त करता है। जैसा आगे (वा.प., 1. 46 पर) स्पष्ट करेंगे, यह बुद्धिस्थ शब्द ध्वनियों अर्थात् श्रोत्रग्राह्य शब्द का निमित्त है। प्रस्तुत कारिका की वृत्ति में भी स्पष्ट किया गया है कि "जिसमें अधिष्ठित होकर और जिसका आश्रय लेकर ध्वनियाँ अर्थ को व्यक्त करती हैं वह निमित्त है।" वही अन्तःस्थ शब्द करण-व्यापार द्वारा

ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त होता है और अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार एक पक्ष के अनुसार क्रमरहित (मानस) शब्द निमित्त है और क्रमयुक्त (ध्वनिरूप) शब्द अर्थबोध के लिए प्रयुक्त होता है (लब्धानुसंहारो निमित्तम्, उपजनितक्रमस्तु प्रत्यायक इत्येके –वृत्ति)। किन्तु वह क्रमयुक्त शब्द भी श्रोता द्वारा एक इकाई के रूप में गृहीत होकर ही अर्थ का प्रत्यायक बनता है (*तस्यापि क्रमरूपप्रत्यस्तमयेनैव प्रतिपत्तिषु [प्रतिपत्तृषु?] प्राप्तसमावेशस्य प्रत्यायकत्वमाचक्षते –वृत्ति,* पृ.102)। ध्वनियाँ स्फोटरूप शब्द को अभिव्यक्त करके ही अर्थ को व्यक्त करती हैं। इसी दृष्टि से उन्हें अर्थ की प्रत्यायक कहा गया है। वस्तुतः एक बार अभिव्यक्त होने पर स्फोट अपने अर्थ को स्वतः ही अभिव्यक्त कर देता है क्योंकि उसमें अपने आपको (अर्थात् अपने एकात्मक स्वरूप को) और अर्थ को, दोनों को व्यवत करने की सामर्थ्य है (*वा.प.*, I. 55)।

एक अन्य दृष्टि से देखें तो यही क्रम उलटा हो जाता है। इसके अनुसार ध्वनि वास्तविक शब्द अर्थात् स्फोट का निमित्त है और स्फोट अर्थ का प्रत्यायक है (अपर आह - क्रमवानक्रमनिमित्तम् –*वृत्ति*)। वृषभदेव स्पष्ट करते हैं कि यह व्याख्या श्रोता के दृष्टिकोण से है। श्रोता पहले ध्वनि को सुनता है और उनसे एकात्मक अक्रम शब्द को ग्रहण करता है। अर्थात् एकात्मक शब्द मन में सदा विद्यमान रहता है किन्तु श्रोता इसे तभी ग्रहण कर सकता है जब इसे उपयुक्त ध्वनियों के माध्यम से संप्रेषित किया जाए। इस प्रकार ध्वनियाँ शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति की निमित्त हैं और अपने स्वरूप का ग्रहण हो जाने पर स्फोट अर्थ को तुरन्त प्रकट कर देता है। अक्रम, एकात्मक शब्द क्रमयुक्त ध्वनियों द्वारा कैसे अभिव्यक्त होता है यह आगे (*वा.प.*, I. 51-52 में) स्पष्ट करेंगे।

इस प्रकार प्रत्येक सार्थक शब्द में दो तत्त्व हैं ध्वनि-तत्त्व और स्फोट-तत्त्व। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी inner word-form तथा outer word-form कह कर शब्द के इन दो पक्षों का उल्लेख करते हैं। स्फोट-तत्त्व क्रमविहीन और एकात्मक है जो क्रमयुक्त ध्वनियों के माध्यम से अर्थ का वाचक होता है। आगे 46वीं कारिका में इसी को निमित्त कहा गया है। अर्थ का उस अक्रम शब्द के साथ तादात्म्य होता है। वृत्ति में उद्धृत निम्नलिखित कारिका इसी आशय को व्यक्त करती है–

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा संभेदमुपगच्छति॥

45. आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥

अनु.:- परम्परा के जानकार कुछ लोग इन दोनों में वास्तविक भेद मानते हैं और कुछ लोग इन्हें एक ही कहते हैं जिनमें बुद्धि के भेद से भेद मान लिया गया है।

व्या.:- ध्वनि व्यञ्जक है और स्फोट व्यङ्ग्य। किन्तु वस्तुतः दोनों *भिन्न* हैं या *अभिन्न?* भर्तृहरि इस विषय में परम्परा के ज्ञाताओं के दो मतों का उल्लेख करते हैं। *वृत्ति* में इस कारिका को दो प्रकार से स्पष्ट किया गया है। एक के अनुसार कार्य और कारण में यदि भेद मानें, तो निमित्त शब्द (स्फोट अथवा ***बुद्धिस्थ*** शब्द) और ***प्रतिपादक*** शब्द (अर्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द अर्थात् ध्वनि) भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु यदि यह मानें कि कार्य और कारण दोनों वस्तुतः एक ही हैं और वस्तुतः दोनों एक ही तत्त्व की दो शक्तियाँ हैं – कार्यशक्ति और कारणशक्ति – और उस शक्तिभेद के कारण दोनों को भिन्न-भिन्न मान लिया जाता है, तो स्पष्ट हो जाता है कि उनमें भेद केवल बुद्धिकृत है, वास्तविक नहीं। दूसरी ओर, जाति और व्यक्ति के भेद के आधार पर भी हम इस भेद की व्याख्या कर सकते हैं। यदि जाति और व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मानें तो स्फोट और ध्वनि को भी भिन्न-भिन्न मानना पड़ेगा और यदि जाति और व्यक्ति को एक ही मानें अर्थात् एक ही तत्त्व के दो पक्ष मानें तो स्फोट और ध्वनि के विषय में भी यही मानना चाहिए। जैसा आगे (*वा.प.* I. 93 में) कहेंगे, स्फोट जाति है और ध्वनियाँ व्यक्ति हैं। जैसे गोत्व जाति है और पृथक्-पृथक् गौएँ व्यक्ति हैं जो उस जाति को अभिव्यक्त करती हैं, इसी प्रकार स्फोटरूप शब्द भिन्न-भिन्न ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, जैसे '**घट**' शब्द एक ही है और बार-बार उच्चारित '*घट*' शब्द उसको व्यक्त करने वाली व्यक्तियाँ हैं। अतः जाति और व्यक्ति जब एक ही हैं तो स्फोट और ध्वनियों को भी भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न मानना चाहिए। *महाभाष्यदीपिका* (पस्पशा.) में भी भर्तृहरि दो प्रकार के शब्दों की बात करते हुए उन्हें जाति और व्यक्ति अथवा स्फोट और ध्वनि कहते हैं- *द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्चेति। ...अथवा जातिर्व्यक्तिश्चेति। अथवा स्फोटो ध्वनिश्च।* (*म.भा.दी.*, पृ. 13)। अगली कारिका में स्पष्ट करते हैं कि बुद्धि में स्थित शब्द व्यक्त शब्दों का कारण किस प्रकार होता है :

कारिका 46 - 67

46. अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥

अनु.:- जिस प्रकार अरणियों के भीतर रहने वाली अग्नि प्रकाश उत्पन्न करने वाली अग्नि का कारण है उसी प्रकार (वक्ता की) बुद्धि में स्थित शब्द विभिन्न व्यक्त अथवा वाचक शब्दों का कारण होता है।

व्या.:- हम देखते हैं कि दो अरणियों को मथकर अग्नि उत्पन्न की जाती है। इसका अर्थ है कि अग्नि अरणियों में पहले भी विद्यमान थी किन्तु अभी अभिव्यक्त नहीं थी। अरणी में निहित अग्नि व्यक्त होने वाली अग्नि का कारण है इसी प्रकार जो शब्द बुद्धि में स्थित था वह वक्ता द्वारा अभिव्यक्ति की इच्छा (विवक्षा) होने पर व्यक्त शब्दों का कारण बन जाता है। और फिर वह अपने स्वरूप को और अर्थ को, दोनों को प्रकाशित करता है वैसे ही जैसे अग्नि स्वयं को भी प्रकाशित करती है और पदार्थों को भी। शब्द वक्ता के मन में एक इकाई के रूप में विद्यमान था। वक्ता जब इसे व्यक्त करता है तो ध्वनियाँ इस अभिव्यक्ति का माध्यम बनती हैं। पुनश्च, श्रोता भी इस शब्द को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है और तब यह शब्द अर्थ के संप्रेषण का माध्यम बनता है। इस कारिका से स्पष्ट है कि बुद्धि में स्थित शब्द निमित्त है जबकि, अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द, श्रोता तक अर्थ-संप्रेषण करने वाला उच्चरित शब्द है।

46वीं कारिका में बुद्धिस्थ शब्द को व्यक्त शब्दों का निमित्त कहा गया है। अगली कारिका में इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया बताई है कि किस प्रकार शब्दों में परस्पर कारण-कार्य-भाव बन जाता है।

47. वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥

अनु.:- पहले बुद्धि के द्वारा विशिष्ट रूप में अवधारित होकर और किसी विशेष अर्थ के साथ युक्त होकर विभिन्न करणों (उच्चारणस्थानों) से उत्पन्न ध्वनि के द्वारा वह (शब्द) अभिव्यक्त होता है।

व्या.:- वक्ता जब किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करना चाहता है तो पहले उस अभिव्यक्ति के लिए वह अपनी बुद्धि से शब्द का निरूपण करता है और अन्य शब्दों से उसे पृथक् करके, एक भिन्न रूप देकर *(विशिष्टरूपेण तर्कितः-निरूपितः)* अर्थात् किसी अर्थ से उसका तादात्म्य करते हुए उसका प्रयोग करता है और वह शब्द ध्वनियों के माध्यम से व्यक्त होता है। इस प्रकार ध्वनियाँ उसकी निमित्त बनती हैं, वे ध्वनियाँ जो विभिन्न उच्चारण-स्थानों (करणों) द्वारा उत्पन्न होती हैं। शब्द और अर्थ का संबन्ध अभेद-संबन्ध है। इसीलिए पदार्थ के लिए हम 'यह गौ है' ऐसा प्रयोग करते हैं। इस प्रकार शब्द के स्वरूप को जब पदार्थ पर आरोपित कर दिया जाता है तब वह पदार्थ एक प्रतिबिम्ब (percept) के रूप में बुद्धि के द्वारा गृहीत होता है और शब्द के साथ एकाकार हो जाता है। फिर वक्ता की अभिव्यक्ति की इच्छा के अनुसार उस शब्द का उस विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है और तब वह विभिन्न करणों में उत्पन्न ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

वह एकात्मक शब्द अथवा स्फोट वस्तुतः क्रमविहीन है किन्तु नाद के क्रमशः उत्पन्न होने के कारण वह भी क्रमवान् सा प्रतीत होता है। यह नाद क्या है? ध्वनियाँ ***पारमाणविक*** संरचनाओं के रूप में जानी जाती हैं जो ***सर्वव्यापक*** हैं और ***अप्रत्यक्ष*** हैं। ***वाक्-इन्द्रियों*** (कण्ठ, तालु आदि) के माध्यम से वे ध्वनियाँ एकत्र होकर स्थूल एवं प्रत्यक्ष के योग्य बन जाती है और तब उन्हें नाद कहा जाता है। अर्थात् नाद ध्वनि का ही स्थूल रूप है। भर्तृहरि ने ***'नाद'*** और ***'ध्वनि'*** शब्दों को पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। मण्डनमिश्र की ***स्फोटसिद्धि (कारिका 18) पर गोपालिका टीका*** (पृ. 127)[1] में भी इन दो शब्दों को पर्याय माना गया है – ***"नादो ध्वनिरित्यनर्थान्तरम्"।*** ये नादात्मक ध्वनियाँ क्रमयुक्त और भेदयुक्त हैं अतः इनके द्वारा अभिव्यक्त शब्द भी क्रमविहीन और भेदहीन होने पर भी क्रमवान् और भेदवान् सा प्रतीत होता है। इसी बात को अगली कारिका में कहा गया है :

48. नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते॥

अनु.:- नाद क्रम में उत्पन्न होता है, इसलिए वह (शब्द भी) जो न पूर्व है, न पर है और न ही क्रम से युक्त है, भेदवान् सा प्रतीत होता है और मानो क्रमशः उत्पन्न होता है।

व्या.:- इस प्रकार क्रम नाद का धर्म है, शब्द अर्थात् स्फोट का नहीं। शब्द एक होते हुए भी क्रमवान् सा प्रतीत होता है किन्तु यह क्रम अथवा भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले अवयव स्फोट के नहीं हैं अपितु ध्वनि के हैं। यह ऐसे ही है जैसे अवयवी एक संपूर्ण इकाई है किन्तु अवयव-भेद के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। नैयायिक मानते हैं कि शब्द का अर्थ अन्तिम ध्वनि से व्यक्त होता है और वह अन्तिम ध्वनि अपने साथ पूर्व-पूर्व ध्वनियों के संस्कारों को लिये होती है। यह दृष्टिकोण भाषा की दृष्टि से संतोषजनक नहीं है। जब पूर्व-पूर्व

---

1 यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास, मद्रास, 1931.

ध्वनियाँ तो संस्कार उत्पन्न करती हैं और अन्तिम ध्वनि साक्षात् उपस्थित होती है तो उनके क्रम की व्यवस्था कौन करता है? यदि यह भी मान लें कि ये सभी ध्वनियाँ और उनके संस्कार एक विशेष क्रम में ही मानस में उपस्थित होते हैं तो भी वे अर्थ के वाहक कैसे बनते हैं। यदि वे अर्थ के वाहक शब्द होते तो कूप, यूप, सूप आदि में 'ऊप' का भी कोई अर्थ होना चाहिए था। इसी प्रकार, उदाहरण के लिए, अंग्रेजी के manage शब्द में man शब्द का भी ग्रहण होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक है कि अर्थ का वाहक शब्द ध्वनियों के समूह से भिन्न माना जाए। ध्वनियों से उसका संबन्ध यह है कि वह ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ करता है। इस प्रकार स्फोट अर्थ का वाहक है और वह क्रमविहीन है। यदि उसे क्रमवान् मानेंगे तो उसके खंड भी मानने होंगे जैसे manage में man अथवा 'दमन' में 'मन'। पर ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि स्फोट क्रमविहीन है। फिर भी उसकी अभिव्यक्ति तो क्रमशः ही होती है। एकात्मक शब्द क्रमवान् इसीलिए प्रतीत होता है क्योंकि उसे अभिव्यक्त करने वाली ध्वनियाँ क्रम में उत्पन्न होती हैं। ध्वनियाँ अक्रम रूप में व्यक्त हो ही नहीं सकतीं क्योंकि उच्चारण-स्थानों और करणों का व्यापार क्रम से ही होता है और वह व्यापार ही ध्वनियों को उत्पन्न करता है।

49. प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥

अनु.:- जिस प्रकार अन्यत्र स्थित प्रतिबिम्ब जल की क्रिया के कारण उसकी प्रवृत्तियों का अनुगमन करता है, स्फोट और नाद का धर्म (अथवा संबन्ध) भी वैसा ही है।

व्या.:- जल में जब चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो चन्द्रमा यद्यपि आकाश में स्थित है तथापि उसका प्रतिबिम्ब जल की क्रियाओं का अनुगमन करता है। जल स्थिर है तो प्रतिबिम्ब भी स्थिर है। वायु के संपर्क से जल हिलता है तो प्रतिबिम्ब भी हिलता है। वह पानी की गतिविधियों, लहरों आदि को ग्रहण करता है और उन गतिविधियों से युक्त सा प्रतीत होता है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिबिम्ब का वायु से कोई संबन्ध नहीं और इसलिए उसमें कोई गति नहीं हो सकती। किन्तु जल में होने वाली गति प्रतिबिम्ब में भासित होती है। इसी प्रकार स्फोट भी ध्वनियों के धर्मों को ग्रहण करके क्रम और भेद के धर्मों से युक्त सा प्रतीत होता है। शब्दों में स्फोट और ध्वनि के बीच ध्वनि ही अल्प अथवा महान् होती है जैसा *महाभाष्य* में कहा है–

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः॥

ध्वनिरूप *श्रोत्रग्राह्य* शब्द बाह्य है और उसका ग्रहण क्रमयुक्त रूप में होता है जबकि वास्तविक स्फोटरूप शब्द बुद्धिस्थ है जो क्रमविहीन है।

50. आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥

अनु.:- जिस प्रकार ज्ञान में ज्ञान का अपना स्वरूप और ज्ञेय वस्तु का स्वरूप, दोनों ही उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार शब्द में भी अर्थ का स्वरूप और शब्द का स्वरूप दोनों ही प्रकाशित होते हैं।

व्या.:- यहाँ भर्तृहरि शब्द की दो प्रकार की सामर्थ्य की चर्चा करते हैं। शब्द ज्ञान की भाँति है, चैतन्य की भाँति है। जैसे चैतन्य स्वयं प्रकाशित है और अन्य सब कुछ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द अपने आप को भी प्रकाशित करता है और अर्थ को भी। ज्ञान ज्ञेय के अधीन है। ज्ञेय के बिना ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं। फिर भी यह देखा जाता है कि ज्ञान ज्ञेय को तो प्रकाशित करता ही है, साथ ही वह स्वयं भी ज्ञान का विषय बनता है जैसा कि 'घटं जानामि' (मुझे घड़े का ज्ञान है) जैसे वाक्यों से स्पष्ट है। इससे पता चलता है कि घट के ज्ञान का भी मुझे ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ के साथ-साथ ज्ञान स्वयं को भी प्रकाशित करता है। इसीलिए हम पूर्व ज्ञान का स्मरण कर सकते हैं। अन्यथा यदि ज्ञान का अनुभव न होता तो उसकी स्मृति भी संभव नहीं थी। इसी प्रकार शब्द भी स्वयं अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए ही अर्थ को प्रकाशित करता है। इस प्रकार इसमें प्रकाशकत्व और प्रकाश्यत्व दोनों विद्यमान हैं। कभी-कभी, जैसे व्याकरण के 'अग्नेर्ढक्' जैसे स्थलों में तो शब्द का अपना स्वरूप ही प्रकाशित होता है; 'आग्नेय' की सिद्धि के लिए ढक् प्रत्यय पदार्थ के स्वरूप से नहीं, अपितु शब्द-स्वरूप से जुड़ता है। इस प्रकार कभी-कभी शब्द अपने स्वरूप का ही वाचक होता है। किन्तु 'फलं खादति' जैसे वाक्यों में क्रिया का संबन्ध पदार्थ से होता है, शब्द से नहीं। शब्द के साथ भोजनक्रिया का संबन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार कहीं शब्द का अपना स्वरूप व्यक्त होता है, कहीं अर्थ ही महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु प्रायः शब्द अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए अर्थ को प्रकाशित करता है। इसीलिए *संबन्धसमुद्देश* (*वा.प.*, 3.3.1-2) में *भर्तृहरि* कहते हैं कि शब्द वक्ता के अभिप्राय को, बाह्य अर्थ को और अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। उनमें अर्थ अथवा वक्ता के अभिप्राय के विषय में तो संशय हो सकता है किन्तु स्वरूप के विषय में कोई संशय नहीं होता। इससे पूर्व *वा.प.*, 1.44 की *वृत्ति* में भी शब्द की दो शक्तियों (श्रुतिशक्ति और अर्थशक्ति) की चर्चा हुई है – अक्रमे तु वागात्मनि श्रुत्यर्थशक्ती संसृज्येते।

51. आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियाभूता भागशो भजते क्रमम्॥

अनु.:- शब्द कहलाने वाली जो आन्तरिक शक्ति (क्रतु) मयूरी के अंडे में विद्यमान रस की स्थिति को प्राप्त कर चुकी है उसकी क्रिया जैसी वृत्ति (व्यापार) अवयवों के रूप में क्रम को प्राप्त करती है।

व्या.:- अक्रम और अखण्ड स्फोट भाषा में क्रम को किस प्रकार धारण करता है, इसे भर्तृहरि एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। क्रतु का अर्थ है : आभ्यन्तर तत्त्व, ऐसी आभ्यन्तर शक्ति जो व्यक्त शब्दों का कारण है। आभ्यन्तर शब्द कहलाने वाली यह शक्ति मयूरी के अंडे में विद्यमान रस की भाँति है। जैसे मयूरी के अंडे में विद्यमान रस में उत्पद्यमान शिशु अपने सभी अंगों व वर्णों के साथ विद्यमान है किन्तु वे अवयव एवं वर्ण उस रस में संपूर्णता में हैं; वहाँ उनका क्रम पृथक्तया नहीं है। अंडे में से निकलने वाला शिशु क्रमशः अवयवों के रूप में व्यक्त होता है। इसी प्रकार व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला शब्द जिन भेदों को ग्रहण करता है उन सभी को समेटकर वह अन्तःकरण में एक आन्तरिक शक्ति (क्रतु) के रूप में स्थित रहता है। भेद का एक सूक्ष्म संस्कार मात्र उसमें बना रहता है वैसे ही जैसे अंडा निष्क्रिय और विभागरहित होते हुए भी उसमें विभागों को क्रमशः प्रकट करने की सामर्थ्य है।

जैसे एक शब्द अविभागावस्था में रहता है वैसे ही अनेक शब्दों से युक्त वाक्य अथवा भाषा भी विभागरहित होकर विद्यमान है। शब्द के रूप में विद्यमान यह आन्तरिक शक्ति अपने आपको प्रकट करने के लिए वक्ता को प्रेरित करती है और जब वक्ता अपने अभिप्राय को संप्रेषित करना चाहता है तो यह आन्तरिक शब्दप्रवृत्ति भेद और क्रम को धारण करती है और शब्द पद और वाक्य जैसे सविभाग रूपों को ग्रहण करके अभिव्यक्त होता है। यह स्मरणीय है कि शब्द अथवा स्फोट की अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया कोई रहस्यात्मक प्रक्रिया नहीं है। यह प्रत्यक्षतः अनुभूत तथ्य है कि ध्वनियों के माध्यम से क्रमशः व्यक्त होकर अर्थबोध कराने वाला शब्द एक संपूर्ण इकाई है।

बुद्धि में शब्द के क्रम के विलय को हम तिरोभाव कह सकते हैं और वक्ता की इच्छा के परिणामस्वरूप जब उसकी अभिव्यक्ति होती है, उसे हम शब्द का आविर्भाव कह सकते हैं। शब्द का यह आविर्भाव और तिरोभाव ही उसकी क्रिया है। क्रिया जैसी शब्द की यह वृत्ति अवयवों के रूप में क्रम को ग्रहण एवम् अभिव्यक्त करती है।

इस कारिका में 'क्रियाभूता' के स्थान पर 'क्रियारूपा' और 'लभते' के स्थान पर 'भजते' पाठ भी मिलता है। 'क्रियाभूता' पाठ वृषभदेव की *पद्धति* द्वारा अनुमोदित है जिसके अनुसार 'भूत' शब्द 'इव' अर्थात् क्रियातुल्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन पाठों से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

**52. यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥**

अनु.:- जिस प्रकार किसी मूल वस्तु की आकृति एक बुद्धि का विषय बना कर चित्रफलक पर अंकित की जाती है इसी प्रकार की तीन भागों में विभाजित अवस्था (त्रितय) शब्द में भी दिखलाई देती है।

व्या.:- जब चित्रकार चित्र की रचना करना चाहता है तो जिस वस्तु या व्यक्ति का चित्र बनाना चाहता है उसे वह एक क्रम में देखता है और फिर धीरे-धीरे एक समग्रता में उसका ग्रहण करता है। पुनश्च, क्रम में ही वह चित्रफलक पर उसे चित्रित करता है। इसी प्रकार शब्द भी जब व्यवहार में आता है तो पहले उसका क्रम में ग्रहण होता है, फिर वह एक संपूर्णता में गृहीत होता है और संपूर्णता में गृहीत वह शब्द बुद्धि में लीन होकर पदार्थ के साथ एकाकार हो जाता है। फिर ध्वनियों के माध्यम से वह क्रम में ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार, शब्द की भी वे ही तीन अवस्थाएँ हैं जो चित्रांकन में दिखलाई पड़ती हैं। उच्चरित शब्द पहले सक्रम सुनाई पड़ता है फिर एक अक्रम समग्रता में बुद्धि में स्थिर होता है और फिर, वक्ता की अभिव्यक्ति की इच्छा होने पर, सक्रम रूप में ही उसकी अभिव्यक्ति होती है।

**53. यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते॥**

अनु.:- जिस प्रकार प्रयोक्ता की बुद्धि पहले शब्दों में ही प्रवृत्त होती है उसी प्रकार श्रोता की बुद्धि का व्यापार भी शब्दों के प्रसंग में ही होता है।

व्या.:- स्वरूप का ग्रहण कराना और अर्थ का ग्रहण कराना ये दोनों (आन्तर) शब्द की ही शक्तियाँ हैं। शब्द ध्वनियों द्वारा पहले अपने स्वरूप को व्यक्त करता है और फिर अर्थ को, यह बात भर्तृहरि इस कारिका में कहते हैं। शब्द का प्रयोग करने वाला व्यक्ति जब किसी अर्थ का बोध कराना चाहता है तो वह अपनी बुद्धि में स्थित शब्दों में से उपयुक्त शब्दों का चयन करता है क्योंकि उसे मालूम है कि उन्हीं के माध्यम से वह अर्थ का बोध करा सकता है। इसी प्रकार श्रोता भी जानता है कि शब्द के रूप को भली भाँति ग्रहण किये बिना वह अर्थ को नहीं समझ सकेगा। इसलिए पहले प्रयास में वह शब्द के रूप को ही ग्रहण करता है। जैसा वृत्ति में स्पष्ट किया गया है, श्रोता को शब्दस्वरूप को उसकी सभी विशेषताओं में ग्रहण करना है; तभी शब्दस्वरूप अर्थ का बोध करा सकेगा। स्पष्ट है कि श्रोत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त मन की एकाग्रता भी इस व्यापार में आवश्यक है। हमारा प्रतिदिन का अभ्यास इस प्रकार का बन चुका है कि हम उस शब्दरूप को अर्थरूप से अलग करके नहीं देखते किन्तु स्वयं का ग्रहण कराए बिना शब्द अर्थ का बोध नहीं करा सकता जैसा आगे भर्तृहरि कारिका 56-57 में स्पष्ट करेंगे। अतः सर्वप्रथम शब्द का ग्रहण होता है और तत्पश्चात् वह अर्थ के प्रति गौण हो जाता है। तृतीय काण्ड

में भी भर्तृहरि यही कहते हैं कि सर्वप्रथम शब्दों के द्वारा अपनी ही जाति का अभिधान होता है और फिर अर्थजाति (गोत्व आदि) पर उनका अध्यारोप किया जाता है:

स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना।। (*वा.प.* 3, जाति. 6)

54. अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित्।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते।।

अनु.:- अर्थ के प्रति गौण होने के कारण, कुछ अभिधेयों में जो चरितार्थ हो चुके हैं, ऐसे शब्दों के परार्थ होने के कारण सामान्य जन उनकी ओर ध्यान नहीं देते।

व्या.:- शब्द का उच्चारण अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए होता है और इसलिए वह अर्थ के प्रति गौण है। शब्द अपने आप के लिए उच्चरित नहीं होता अपितु कुछ विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति करके उसका प्रयोजन पूरा हो जाता है। इसलिए वह परार्थ है और अर्थ के प्रति उपसर्जनभूत है। अर्थ प्रधान है, शब्द अप्रधान है क्योंकि उसका उद्देश्य तो अभिधेय अर्थात् अर्थ को अभिव्यक्त करना है। ऐसी स्थिति में लोक का ध्यान शब्द का स्वरूप ग्रहण करने के उपरान्त भी अर्थ पर ही जाता है। अतः क्रियाओं से शब्दों का अन्वय नहीं होता अपितु अर्थों का ही अन्वय क्रियाओं से होता है। कुछ स्थितियों में अवश्य शब्द का स्वरूप ही प्रधान होता है। जैसे ''गांधीजी के शब्द यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं'', इस वाक्य में स्वयं शब्दरूप ही प्रधान है। यहाँ हम शब्दों के अर्थ को उद्धृत नहीं करते अपितु स्वयं शब्द ही उद्धृत किये जा रहे हैं। इसी प्रकार व्याकरण में जब पाणिनि 'अग्नेर्ढक्' कहते हैं तो ढक् प्रत्यय 'अग्नि' शब्द से ही जोड़ा जाता है। न तो वह अग्नि के पर्यायों 'वह्नि' आदि से जुड़ता है, न ही उसके अर्थ (ज्वालाओं) से उसका योग होता है। यद्यपि सर्वप्रथम शब्द का अर्थ उसका स्वरूप होता है और कतिपय स्थलों पर उस स्वरूप की प्रधानता भी होती है तथापि शब्द-स्वरूप सामान्यतः अपने अर्थ के प्रति गौण होता है। अतः शब्द के द्वारा अभिहित पदार्थ में ही क्रियाएँ होती हैं और इसलिए शब्द का स्वरूप क्रिया से संबद्ध नहीं होता। अतः शब्द पर लोग बहुत ध्यान नहीं देते। किन्तु जैसा आगे चलकर कहेंगे कि जब शब्द का ग्रहण नहीं होता तो श्रोता पूछता है : ''आपने क्या कहा?'' तब वक्ता, उदाहरण के लिए, कहता है : ''गाय।'' अर्थात् यहाँ कहने की क्रिया शब्द के अर्थ से नहीं अपितु उसके स्वरूप से संबद्ध होती है।

इस प्रकार शब्द की दो शक्तियाँ हैं, वह ग्राह्य भी है, ग्राहक भी। वह अन्य का ग्रहण भी कराता है और स्वयं भी गृहीत होता है। किन्तु एक ही शब्द में रहने पर भी इन दोनों शक्तियों में परस्पर विरोध नहीं होता। जैसे अग्नि अपने आपको प्रकाशित करते हुए अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करती है उसी प्रकार शब्द भी अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए अर्थ को भी प्रकाशित करता है। इसी बात को अगली कारिका में कहते हैं-

55. ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते।।

अनु.:- जिस प्रकार तेज की दो शक्तियाँ हैं : ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व, उसी प्रकार सभी शब्दों की भी ये दो विशिष्ट शक्तियाँ हैं।

व्या.:- हम देखते हैं कि घट आदि पदार्थ स्वयं गृहीत तो होते हैं किन्तु ग्रहण की क्रिया में वे रंचमात्र भी सहायक नहीं होते। इन्द्रियाँ अन्य पदार्थों का ग्रहण तो कराती हैं किन्तु स्वयं अपने ग्रहण में वे सहायक नहीं होतीं। इस प्रकार घट आदि केवल ग्राह्य हैं, इन्द्रियाँ केवल ग्राहक हैं। उदाहरण के लिए, नेत्र दूसरों को तो देखते हैं किन्तु स्वयं उनकी उपलब्धि उनके अपने द्वारा नहीं होती। इस प्रकार इन्द्रियाँ स्वयं गृहीत हुए बिना ही पदार्थ को ग्रहण करती हैं।

ग्राहक कर्ता है, *ग्राह्य* कर्म है, सो एक ही वस्तु *ग्राह्य* और *ग्राहक* कैसे हो सकती है जैसा शब्द के विषय में कहा गया? किन्तु इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि यह बात लोकसिद्ध है। अग्नि जब प्रकाश देती है तो अपने आपको भी प्रकाशित करती है और अन्य पदार्थों को भी। यही स्थिति शब्द की भी है। शब्द भी अपने स्वरूप के साथ अर्थ का भी बोध कराता है। वृत्ति में कहा गया है कि शब्द की ये दो शक्तियाँ, जो वस्तुतः शब्द से अभिन्न हैं, पृथक् सी प्रतीत होती हैं। इससे लगता है कि चतुर्थ पाद में 'पृथगिव स्थिते' पाठ रहा होगा।

इसलिए शब्द जब तक स्वयं ज्ञान का विषय नहीं बन जाता तब तक वह अर्थ का बोध नहीं करा सकता :

56. विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः।।

अनु.:- जब तक शब्द स्वयं (ज्ञान का) विषय नहीं बन जाते तब तक उनसे अर्थ का प्रकाशन नहीं होता। बिना स्वयं गृहीत हुए केवल अपनी सत्ता के द्वारा वे अपने अर्थ के प्रकाशक नहीं होते।

व्या.:- शब्द अपनी सत्ता मात्र से अर्थ का बोध नहीं कराता। शब्द अपने अर्थ का प्रकाशन करे इसके लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम शब्द का अपना स्वरूप प्रधान हो और फिर वह अर्थ के प्रति गौण बने। शब्द-स्वरूप का भी केवल श्रावण प्रत्यक्ष होना पर्याप्त नहीं अपितु

एक सार्थक इकाई के रूप में शब्द हमारे ज्ञान का विषय होगा तभी वह अर्थ के प्रति गौण हो सकेगा। यदि शब्द स्वयं ग्राह्य नहीं होता तो सत्ता मात्र से वह अर्थ का प्रकाशक हो सकता था। किन्तु जब तक शब्द स्वयं ज्ञात नहीं होता तब तक वह अर्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसलिए शब्द के दोनों पक्ष, ग्राह्यत्व ग्राहकत्व, परस्पर संबद्ध हैं। यदि इनमें एक भी स्पष्ट नहीं होता तो श्रोता नहीं समझ पाता कि वक्ता क्या कहना चाहता है और इस प्रकार वक्ता के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती।

57. अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात्किमाहेत्यभिधीयते।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा।

अनु.:- इसलिए जब शब्द के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब (वक्ता से) पूछा जाता है : (आपने) क्या कहा? किन्तु किसी पदार्थ के प्रकाशन में इन्द्रियों का स्वरूप इस प्रकार गृहीत नहीं होता।

व्या.:- यह सभी जानते हैं कि अर्थ का बोध शब्द स्वरूप के ग्रहण पर निर्भर है इसलिए यदि कोई व्यक्ति शब्द के स्वरूप का भली भाँति ग्रहण नहीं कर पाता तो वह प्रश्न करता है : ''किं भवानाह (आपने क्या कहा)?'' यदि अर्थबोध से पूर्व शब्द स्वरूप का ग्रहण आवश्यक न होता तो यह प्रश्न निरर्थक होता। इस प्रकार स्वयं गृहीत होकर ही शब्द अर्थ के बोध में सहायक होता है। विषय का ग्रहण तो इन्द्रियाँ भी कराती हैं। किन्तु इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों के बोध में यह स्थिति नहीं होती। इन्द्रियाँ अपनी सत्ता मात्र से, अपने स्वरूप का ग्रहण हुए बिना ही पदार्थ का बोध कराती हैं। किसी वस्तु को देखने के लिए नेत्रों का देखा जाना अनावश्यक है। इसलिए शब्द के स्वरूप के ग्रहण के प्रति लोग प्रयास करते हैं किन्तु इन्द्रिय के स्वरूप के ग्रहण के लिए कोई प्रयास नहीं करता। शब्द इसीलिए ध्यानपूर्वक सुने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्द में प्रकाशकत्व (ग्राहकत्व) के अलावा प्रकाश्यत्व (ग्राह्यत्व) भी विद्यमान है। इस दृष्टि से शब्द और इन्द्रिय में भेद है। इन्द्रिय का ग्रहण पदार्थ के स्वरूप की उपलब्धि के लिए आवश्यक नहीं किन्तु शब्द के संदर्भ में उसका अपना स्वरूप गृहीत हुए बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता।

58. भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः॥

अनु.:- विश्लेषण के लिए पृथक् किये हुए और भिन्न-भिन्न रूप में गृहीत ये दो शब्दधर्म परस्पर विरोध के बिना, भेद पर आश्रित कार्यों में कारण बनते हैं।

व्या.:- जिन दो शब्दधर्मों की बात प्रस्तुत कारिका में की जा रही है वे वही दो शक्तियाँ हैं जिन्हें 56वीं कारिका में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व कहा गया है। ये दोनों शब्दधर्म शब्द से भिन्न नहीं हैं फिर भी जब हम अपोद्धार ('अपोद्धार' पर देखें कारिका 24 की व्याख्या) करते हैं अर्थात् अलग से इनका विश्लेषण करके इन्हें देखते हैं तो एक ही शब्द की शक्तियाँ होने पर भी हम इन्हें भिन्न-भिन्न रूप में देखते हैं। इस रूप में देखे जाने पर ये ऐसे कार्यों को पूरा करते हैं जो भेद पर निर्भर हैं, जैसे संज्ञा और संज्ञी का विधान। लोक में भी बुद्धि के आधार पर भेद की कल्पना की जाती है, जैसे हम कहते हैं कि यह सुवर्ण की अँगूठी है। अब, सुवर्ण अँगूठी से पृथक् तो नहीं है फिर भी हम 'सुवर्ण की', इस प्रकार के भेदपरक शब्दों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः षष्ठी विभक्ति तो है ही भेदनिबन्धना विभक्ति। 'राज्ञः पुरुषः' में षष्ठी वास्तविक भेद पर आधारित है। राजा भिन्न है, और पुरुष भिन्न। किन्तु 'राहोः शिरः' (राहु का सिर), इन शब्दों में, जो राहु है वही सिर है, राहु सिर से भिन्न कुछ भी नहीं। किन्तु यहाँ भी शब्द पर आधारित भेद-व्यवहार देखा जाता है। शास्त्र में भी हम ऐसा व्यवहार करते हैं। 'अग्नेर्ढक्' इस सूत्र में सूत्रस्थ अग्नि-शब्द संज्ञा है जो अग्नि-शब्द से ढक् प्रत्यय का विधान करता है। अब जिस 'अग्नि' शब्द से हम प्रत्यय जोड़ते हैं और आग्नेय शब्द बनाते हैं वह सूत्र के अग्नि शब्द से बोध्य है अर्थात् संज्ञी है (जो बोधक है वह संज्ञा है और जो बोध्य है वह संज्ञी है)। किन्तु वास्तव में तो जो सूत्र में है और जिससे प्रत्यय का योग हुआ है वे दोनों अग्नि शब्द अभिन्न ही हैं। इनमें काल्पनिक भेद मानकर इन्हें संज्ञा और संज्ञी कह दिया जाता है।

इस प्रकार शब्द स्वयं भी गृहीत होता है और किसी पदार्थ का भी ग्रहण कराता है। जब हम कहते हैं कि 'अग्नि लाओ', तो अग्नि पदार्थ लाया जाता है, शब्द नहीं। किन्तु व्याकरण में शब्द का स्वरूप ही मुख्य हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब कहते हैं कि अग्नि में ढक् प्रत्यय जोड़ा जाए तो ढक् प्रत्यय शब्द से जुड़ता है अंगारों से नहीं। तो फिर अग्नि के वाचक सभी शब्दों (पावक, वह्नि आदि) से ढक् प्रत्यय प्राप्त होता है। इसके प्रतिषेध के लिए पाणिनि कहते हैं - स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (*अष्टा.* 1.1.68), अर्थात् शब्दसंज्ञाओं (जैसे वृद्धि, गुण आदि) को छोड़कर अन्यत्र व्याकरण में शब्द के 'स्व' रूप का ही ग्रहण होता है। यहाँ कात्यायन (*म.भा.*, 1.1.68) कहते हैं : *''शब्दपूर्वको ह्यर्थे संप्रत्ययः''*, अर्थात् पदार्थ के संप्रत्यय से पूर्व शब्द के स्वरूप का संप्रत्यय होता है। शब्द का संप्रत्यय पहले होता है और अर्थ का बाद में। इसलिए स्वभावतः ही व्याकरणिक कार्य शब्दरूप से होगा, इसके लिए सूत्र-रचना की आवश्यकता नहीं। व्याकरण में संज्ञा और संज्ञी के संबन्ध को स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि इस तथ्य का उपयोग करते हैं।

59. वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।
आदैच्प्रत्यायितैः शब्दैः संबन्धं यान्ति संज्ञिभिः॥

60. अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः।
अग्निश्रुत्यैति संबन्धमग्निशब्दाभिधेयया॥

अनु.:- जिस प्रकार वृद्धि आदि (पारिभाषिक) शब्द अपने स्वरूप के साथ जुड़े रहकर अपने संज्ञी अर्थात् 'आदैच्' के द्वारा प्रत्यायित (आ, ऐ, औ) ध्वनियों के साथ संबद्ध होते हैं उसी प्रकार अग्निशब्द (अपने स्वरूप अर्थात्) 'अग्नि' शब्द के साथ जुड़ा रहकर 'अ ग् न् इ' इस शब्द-सत्ता के साथ (संज्ञा और संज्ञी के रूप में) संबद्ध होता है जो (सूत्रस्थ) अग्निशब्द का अभिधेय है।

व्या.:- 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि शब्द ही संज्ञा है और शब्द ही संज्ञी है। शब्द ही वाचक है, शब्द ही वाच्य है। वृद्धिशब्द वाचक संज्ञा है और उसके द्वारा वाच्य संज्ञी हैं - 'आत्' और 'ऐच्' के द्वारा प्रतीयमान ध्वनियाँ, अर्थात् 'आ', 'ऐ' और 'औ'। इसी प्रकार 'इको यणचि' में इक् और यण् संज्ञाएँ हैं और उनके द्वारा प्रत्यायित क्रमश: 'इ, उ, ऋ, लृ' और 'य्, व्, र्, ल्' संज्ञी हैं। जब कार्य होता है तो 'इ, उ, ऋ, लृ' के स्थान पर 'य्, व्, र्, ल्' आते हैं, 'इक्' शब्द के स्थान पर 'यण्' शब्द नहीं आता। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि यहाँ संज्ञा और संज्ञी दोनों शब्द ही हैं फिर भी कार्य तो संज्ञी पर ही होता है। संज्ञा तो संज्ञी का बोध कराकर कृतकार्य हो जाती है। यहाँ संज्ञा और संज्ञी दोनों का स्वरूप अलग-अलग है। किन्तु जहाँ संज्ञा और संज्ञी दोनों का रूप एक जैसा है वहाँ भी उनके बीच वाचक और वाच्य का संबन्ध दिखलाई पड़ता है। *'वृद्धिरादैच्'* में वृद्धि शब्द पहले अपने स्वरूप अर्थात् 'वृद्धि' इस शब्दरूप का बोध कराता है, फिर अपने अर्थ 'आ ऐ औ' के साथ संबद्ध होता है। इसी प्रकार 'अग्नेर्ढक्' में भी अग्नि-शब्द की स्थिति है। यहाँ हम 'अग्नि' शब्द में 'ढक्' प्रत्यय जोड़कर आग्नेय बनाते हैं। इसलिए सूत्रस्थ अग्निशब्द तो संज्ञा है जो पहले स्वरूप का बोधक है और फिर अपने अर्थ (संज्ञी) का। अर्थ के रूप में अग्निशब्द जिस (संज्ञी) का प्रत्यायन करता है वह है प्रक्रिया में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द जिससे प्रत्यय जोड़कर हम आग्नेय शब्द प्राप्त करते हैं। दोनों का रूप समान है किन्तु एक अग्निशब्द तो सूत्रस्थ है और दूसरा प्रक्रियास्थ अथवा कार्यस्थ है। इससे रूप समान होते हुए भी दोनों का भेद दिखलाई देता है। इसीलिए पाणिनि भी कहते हैं: "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा", अर्थात् (वृद्धि आदि जैसी) पारिभाषिक संज्ञाओं को छोड़कर (अशब्दसंज्ञा) अन्य स्थलों पर जब किसी शब्द के प्रसंग में कार्य किया जाता है तो वहाँ शब्द का अपना रूप ही समझना चाहिए। अर्थात् शब्द के अपने रूप पर ही कार्य होता है, उसके अर्थ पर नहीं होता। इसलिए *'अग्नेर्ढक्'* में 'अ ग् न् इ', इन ध्वनियों से निर्मित 'अग्नि' शब्द से ढक् प्रत्यय जोड़ा जाता है, अंगारों से तो प्रत्यययोग संभव ही नहीं और पावक, वह्नि आदि पर्यायवाची शब्दों से भी उसका योग नहीं होता। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द का 'स्वरूप' और उसका अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। भले ही कहीं-कहीं देखने में वे एक जैसे ही क्यों न हों किन्तु उनको भिन्न-भिन्न मानकर ही कार्य किया जाता है।

ये शब्द के दो पक्ष हुए, एक उसका स्वरूप और दूसरा उसका अर्थ। इस प्रकार, इन श्लोकों में दिये उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द अपने अर्थ के साथ-साथ अपने स्वरूप का भी ग्रहण कराता है, और व्याकरण की प्रक्रिया में जहाँ उसका स्वरूप ही उसका अर्थ होता है वहाँ भी ग्राहक और ग्राह्य के भेद से स्वरूप दो प्रकार का हो जाता है, एक सूत्र में है जो संज्ञा है और दूसरा प्रक्रिया में है जो उसका अर्थ, अर्थात् संज्ञी है। इस प्रकार भर्तृहरि के अनुसार व्याकरण के सूत्रों में भी, जहाँ शब्द का स्वरूप ही उसका अर्थ है, शब्द की ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व शक्तियाँ कार्य करती हैं।

> 61. **यो य उच्चार्यते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।**
> **अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते॥**
>
> 62. **उच्चरन् परतन्त्रत्वाद् गुणः कार्यैर्न युज्यते।**
> **तस्मात्तदर्थैः कार्याणां संबन्धः परिकल्प्यते॥**

अनु.:- जो शब्द उच्चारित होता है निश्चय ही वह व्याकरणसंबन्धी कार्य का विषय नहीं बनता। किन्तु साथ ही दूसरे सदृश शब्द को उपस्थित करने की उसकी शक्ति भी समाप्त नहीं होती। जो शब्द उच्चरित होता है वह परतन्त्र है (अर्थात् अर्थप्रत्यायन के लिए उच्चरित हुआ है) और इस कारण गौण है और गौण होने के कारण उसका संबन्ध कार्यों से नहीं होता। इसलिए उसके अर्थों के साथ क्रिया के संबन्ध की परिकल्पना की जाती है।

व्या.: सामान्यतः प्रयोग में हम देखते हैं कि जिस शब्द का उच्चारण करते हैं वह वास्तविक क्रिया से संबद्ध नहीं होता। जब हम 'अग्नि लाओ' कहते हैं तो लाने का कार्य अग्नि शब्द पर नहीं होता अग्नि पदार्थ पर होता है। इसी प्रकार व्याकरणगत प्रक्रिया में भी जो शब्द उच्चारित होता है, कार्य उस पर नहीं होता अपितु उसके द्वारा प्रत्यायित शब्द पर होता है। जो उच्चरित शब्द है, वह अलग है। वह उच्चरित शब्द एक दूसरे शब्द को उपस्थापित करता है और उस पर कार्य होता है। सूत्र में *'अग्नेर्ढक्'* जब पाणिनि ने कहा तो ढक् प्रत्यय सूत्रस्थ अग्निशब्द के साथ नहीं जुड़ता किन्तु वह सूत्रस्थ शब्द एक अन्य अग्निशब्द को मानस में उभारता है। जो भी व्याकरणसंबन्धी कार्य होता है वह इस दूसरे शब्द को होता है अर्थात् उस शब्द को जिसे सूत्रस्थ शब्द ने मानस के समक्ष उपस्थित किया है। वह शब्द है - 'आग्नेय' में विद्यमान अग्निशब्द। यद्यपि उच्चरित शब्द पर कार्य नहीं हुआ फिर भी उस उच्चरित शब्द ने वैसा ही सदृश शब्द मन के सामने उपस्थित किया। इस प्रकार अपने अर्थभूत अन्य शब्द के प्रत्यायन में उसकी शक्ति बाधित नहीं हुई। अब, सुविधा के लिए यदि हम इसे सूत्रस्थ शब्द से अलग करना चाहें तो हम इसे प्रक्रियागत या प्रयोगगत शब्द कह सकते हैं। या फिर हम इन दो प्रकार के शब्दों को प्रत्यायक और प्रत्याय्य भी कह सकते हैं। अब, जो प्रत्याय्य है, अगर उदाहरण आदि देने के लिए उसका प्रयोग करें तो वह भी प्रत्यायक हो सकता है। और जो दूसरा शब्द उससे मन में उभरेगा, वह प्रत्याय्य हो जाएगा। इसी बात को अगली दो कारिकाओं में कहेंगे। अब प्रश्न यह है

कि उच्चरित शब्द को कार्य क्यों नहीं होता। इसका कारण 62वीं कारिका में स्पष्ट किया है। जो शब्द उच्चारित हुआ है वह किसी अन्य अर्थ के प्रत्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है इसलिए वह गौण है। गो-शब्द गो-पदार्थ के प्रत्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः वह गो-पदार्थ के प्रति गौण है। जो परार्थ है उसका संबन्ध क्रिया से कैसे हो सकता है? इसलिए जब 'गामानय' कहते हैं तो आनयन (लाने) की क्रिया से गो-पदार्थ संबद्ध होता है, गो-शब्द नहीं। इसी प्रकार शब्द अपने समानरूप दूसरे शब्द के प्रति भी गौण हो सकता है क्योंकि व्याकरणशास्त्र में तो शब्द ही शब्द का अर्थ है, जैसे 'अग्नेर्ढक्' में उच्चरित अग्निशब्द प्रत्याय्य अग्निशब्द के प्रति गौण है। यह सारा प्रकरण स्पष्ट कर रहा है कि उच्चरित शब्द सदा अपने अर्थ के प्रति गुणीभूत है, चाहे वह अर्थ कोई बाह्य पदार्थ, जैसे गो आदि हो या अपने समानरूप कोई अन्य शब्द।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि शब्द तो स्वयं दूसरे के बोध के लिए है जैसे *'अग्नेर्ढक्'* में वर्तमान अग्निशब्द 'आग्नेय' शब्द में जो अग्निशब्द है उसका बोध करा रहा है लेकिन 'आग्नेय' में जो अग्नि शब्द है वह स्वयं प्रत्याय्य कैसे हो सकता है। वह तो स्वयं दूसरे के लिए है। शब्द तो सदैव पदार्थ की प्रतीति के लिए प्रयुक्त होता है। इसके उत्तर में अगली कारिकाओं में स्पष्ट करते हैं कि यह आवश्यक नहीं है। शब्द अपनी प्रतीति के लिए भी उच्चारित हो सकता है। इसके लिए उपमान-उपमेय, विशेषण-विशेष्य, एवं गुण और द्रव्य जैसे उदाहरण देते हैं :

63. सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः।
तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते॥

अनु.:- उपमान और उपमेय दोनों में *आश्रित* जो जो सामान्य धर्म है वह वह जब उपमिति का विषय बनता है तो उससे भिन्न एक अन्य सामान्य धर्म का ग्रहण होता है।

व्या.:- उपमा के प्रसंग में उपमान, उपमेय और सामान्य धर्म, ये तीन चीज़ें स्पष्ट रूप से गृहीत होती हैं। जब हम कहते हैं कि 'क्षत्रिय ब्राह्मण की भाँति अध्ययन करता है' तो ब्राह्मण उपमान है, क्षत्रिय उपमेय है और अध्ययन दोनों के बीच सामान्य धर्म है। किन्तु जब हम कहते हैं कि 'क्षत्रिय का अध्ययन ब्राह्मण के अध्ययन की भाँति है' तो उपमान और उपमेय क्रमशः ब्राह्मण का अध्ययन और क्षत्रिय का अध्ययन होते हैं और अध्ययन का सौष्ठव अथवा श्रेष्ठता सामान्य धर्म हो जाता है। जब हम कहते हैं कि 'ब्राह्मण के अध्ययन के सौष्ठव की भाँति क्षत्रिय के अध्ययन का सौष्ठव है' तो सौष्ठव उपमान और उपमेय हो जाता है और उस सौष्ठव की परिपूर्णता सामान्य धर्म हो जाता है। सौष्ठव यहाँ सामान्य धर्म का आश्रय होकर द्रव्य जैसी स्थिति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार 'चन्द्र जैसा मुख' में चन्द्र उपमान है, मुख उपमेय है, सुन्दरता सामान्य धर्म है। यदि हम कहें कि 'चन्द्र के सौन्दर्य की भाँति मुख का सौन्दर्य है' तो सौन्दर्य उपमान और उपमेय हो जाता है, और कान्ति आह्लादकता आदि सामान्य धर्म बन जाते हैं। इस प्रकार जहाँ तक शब्द का व्यापार संभव है वहाँ तक उपमान, उपमेय और साधारण धर्म की यह परिकल्पना भी चलती रहती है। *वा.प.*, 3.14.454 की टीका में *हेलाराज* कहते हैं कि यहाँ अनवस्था-दोष नहीं है क्योंकि शब्द के व्यापार का जहाँ उपराम होगा वहीं यह परिकल्पना भी रुक जाएगी। इसी प्रकार शब्द के उच्चारण में भी उच्चरित शब्द अपने समानरूप एक अन्य शब्द की प्रतीति कराता है।

इसी प्रकार-

64. गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वातन्त्र्येणोपदिश्यते।
तस्याश्रिताद् गुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते॥

अनु.:- जब प्रकर्ष का हेतुभूत गुण स्वतन्त्र रूप से (द्रव्य के रूप में) उल्लिखित होता है तो उसके आश्रित दूसरे गुण से उसका अपना प्रकर्ष (अपनी विशेषता) प्रतीत होता है।

व्या:- गुण का कार्य है द्रव्य की विशेषता बतलाना। व्याकरण में गुण की अवधारणा केवल वही नहीं है जो वैशेषिक में है। व्याकरण में द्रव्य वह है जिसकी विशेषता बतलाई जाए या जिसे स्वतन्त्र रूप में कहा जा रहा हो। वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि शब्द द्वारा वस्तु को जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह वस्तु उसी रूप में वैयाकरणों को स्वीकार्य है (शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्)। इसलिए वैयाकरण द्रव्य की एक परिभाषा यह देते हैं कि जिसे 'यह' या 'वह' जैसे सर्वनामों द्वारा प्रधान रूप में प्रस्तुत किया जाए वह द्रव्य है (यावदिदं तदिति प्राधान्येनोपादीयते तद् द्रव्यम् –*वृत्ति, वा.प.* I, पृ. 122)। जिसका प्रयोग द्रव्य को विशिष्ट करने के लिए किया जाए अर्थात् जो द्रव्य पर आश्रित रहते हुए उसकी दूसरों से विशेषता बतलाने में व्यापारवान् प्रतीत हो वह परतन्त्र होने के कारण गौण है। अतः उसे गुण कहते हैं –

संसर्गि भेदकं यद्यत् सव्यापारं प्रतीयते।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्र उदाहृतम्॥ – *वा.प.*, 3.5.1.

वैशेषिकों की परिभाषा, जिसके अनुसार क्रिया और गुण से युक्त पदार्थ द्रव्य है, प्रस्तुत संदर्भ में अभिप्रेत नहीं है। इसलिए प्रकर्ष का हेतु जो गुण द्रव्य की विशेषता बतलाता है, यदि उसका अपना प्रकर्ष बताना हो तो वह एक अन्य गुण का आश्रय बनकर स्वतन्त्र रूप में प्रतीत होता है। 'शुक्लतरः पटः' में रूप की दृष्टि से पट का प्रकर्ष बतलाया जा रहा है किसी दूसरे पट की अपेक्षा, किन्तु जब हम

'शुक्लतरं रूपम् अस्य' कहते हैं तो रूप ही विशेष्य है और द्रव्य की भाँति उसका कथन प्रधानतया होता है। अब शुक्ल की विशेषताएँ, जैसे भास्वरत्व (चमक) आदि शुक्ल के प्रकर्ष की कारण बनती हैं। यद्यपि इनका ग्रहण किसी पद से पृथक् रूप में नहीं होता तथापि उनके बिना प्रकर्ष का बोध संभव नहीं, अतः शुक्ल पद के अर्थ में ही ये समाविष्ट हैं। यदि भास्वरत्व को भी प्रधानतया अभिव्यक्त करना हो, जैसे 'शुक्लमस्य भास्वरतरम्', (इस सफेदी में चमक अधिक है), तो उस भास्वरत्व में निष्ठ कोई अन्य धर्म प्रकृष्टत्व का हेतु बनेगा। इसी प्रकार उच्चरित शब्द से उसके अभिधेय के रूप में एक समान शब्द-स्वरूप का बोध होता है, यह अगली कारिका में कहेंगे।

65. तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत्तस्माद्विविच्यते॥

अनु.:- उस (उच्चरित शब्द) के अभिधेय (अर्थ) के रूप में अवधारित जो शब्द है, जब उसका भी उच्चारण होता है तो उससे भिन्न एक अन्य शब्द-स्वरूप का बोध होता है।

व्या.:- 61वीं कारिका में कहा था कि उच्चरित शब्द पर कार्य नहीं होता किन्तु वह एक अन्य समानरूप शब्द का प्रत्यायन करता है। 62वीं कारिका में इसका कारण बताया कि जो उच्चरित है, वह अपने अर्थ के प्रति गौण है और इसलिए कार्य अर्थ पर होता है, उच्चरित शब्द पर नहीं, चाहे वह अर्थ कोई नेत्रग्राह्य वस्तु हो या श्रोत्रग्राह्य शब्दरूप। इसके पश्चात् अगली दो कारिकाओं में दो दृष्टान्त देकर अब उपसंहार में निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। जब 'अग्नये स्वाहा' कहते हैं तो आहुति 'अग्नि' शब्द के अभिधेय अर्थात् ज्वालाओं में दी जाती है। इसी प्रकार जब 'अग्नेर्ढक्' कहा जाता है तो ढक् प्रत्यय उच्चरित 'अग्नि' से भिन्न अभिधेयभूत 'अग्नि' शब्द से जोड़ते हैं जो 'आग्नेय' में स्थित है। सूत्र में स्थित 'अग्नि' वाचक है और प्रक्रिया में स्थित 'अग्नि' शब्द वाच्य है। इस प्रकार जितनी बार भी हम शब्द का उच्चारण करते हैं तो वह अर्थ के रूप में अपने से भिन्न एक शब्दरूप का बोध कराता है जो उसके उच्चारण का निमित्त है। इस प्रकार जो प्रत्यायक था वह प्रत्याय्य हो जाता है। जब भी हम उस शब्द का उच्चारण करते हैं तो यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है।

66. प्राक् संज्ञिनाऽभिसंबन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका।
षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते॥

अनु.:- संज्ञी से संबद्ध होने से पूर्व संज्ञापद का अर्थ उसका अपना स्वरूप है और इस प्रकार संज्ञा षष्ठी और प्रथमा विभक्ति के प्रयोग का निमित्त बनती है।

67. तत्रार्थवत्त्वात्प्रथमा संज्ञाशब्दात् विधीयते।
अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते॥

अनु.:- अर्थवान् होने के कारण ही संज्ञाशब्द से प्रथमा का विधान किया जाता है और उसके (अभिधेय) अर्थ के कारण ही (यह) 'इसका' (वाचक है), ऐसे भेद की अभिव्यक्ति होती है।

व्या.:- पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रथमा विभक्ति का प्रयोग तभी संभव है जब शब्द अर्थवान् हो। पाणिनीय सूत्र 2.3.46 प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा का विधान करता है। किन्तु संज्ञा किसी बाह्य पदार्थ को अभिव्यक्त तो तभी करती है जब संज्ञी, अर्थात् अर्थ के साथ उसके संबन्ध का ग्रहण हो जाए। इससे पूर्व तो शब्द अपने स्वरूप को ही अर्थरूप में अभिव्यक्त करता है। तृतीय काण्ड के संबन्धसमुद्देश में *भर्तृहरि* कहते है कि शब्द के तीन अर्थो (वक्ता का तात्पर्य, बाह्यार्थ और स्वरूप) में से प्रथम दो में तो संदेह हो सकता है किन्तु स्वरूप के विषय में ऐसा कोई संदेह नहीं होता। अर्थ का ग्रहण न होने पर भी ध्वनियों का श्रवण होते ही शब्द के स्वरूप का ग्रहण हो जाता है–

प्रतिपत्तुर्भवत्यर्थे ज्ञाने वा संशयः क्वचित्।
स्वरूपेपूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते॥ – *वा. प.*, 3.3.32.

संज्ञा शब्द है और संज्ञी उसका अर्थ है। संज्ञा का अर्थ यदि उसका अपना स्वरूप भी न हो तो संज्ञी के साथ संबद्ध होने से पूर्व वह निरर्थक होगी अतः वह प्रातिपदिक का स्तर न पा सकेगी और तब उसमें विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता। व्याकरण की संज्ञाओं में यह स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए, पाणिनीय सूत्र 'वृद्धिरादैच्' में वृद्धि संज्ञा है और 'आत्-ऐच्' संज्ञी है। वृद्धि-संज्ञा आदैच् को अर्थरूप में तभी व्यक्त करेगी जब वह 'आदैच्' के साथ वाक्य में संबद्ध होगी। किन्तु इस संबन्ध के ग्रहण से पूर्व भी 'वृद्धि' शब्द में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। यदि 'वृद्धि' शब्द 'आदैच्' से जुड़ा नहीं तो वह अर्थवान् कैसे हुआ और यदि नहीं हुआ तो उसमें प्रथमा कैसे हुई? इससे स्पष्ट है कि शब्द बाह्य अर्थ से अन्वित होने से पूर्व भी अपने 'स्व-रूप' के द्वारा अर्थवान् है। इस स्व-रूप को आश्रित करके ही संज्ञा में प्रथमा का प्रयोग होता है। बाद में, जब अर्थ के साथ संज्ञा का संबन्ध होता है तो शब्द और अर्थ के बीच अभेद स्थापित करते हुए शब्द के स्वरूप को अर्थ पर आरोपित कर दिया जाता है। स्वरूप को दृष्टि में रखकर ही हम शब्द और अर्थ में अभेद का आरोप करते हुए प्रथमा का प्रयोग करते हैं। जब हम 'अयं गौः' कहते हैं तो हम 'गौः' – इस शब्दस्वरूप को सामने दिखाई देने वाले पदार्थ पर आरोपित करते हैं। अन्यथा, शब्दजाति और अर्थजाति के भिन्न होने के कारण दोनों में एक विभक्ति नहीं हो सकती। इसलिए प्रथमा विभक्ति के प्रयोग में 'यह (पदार्थ) गौ है', इस प्रकार वाचक शब्द से अभिन्न रूप में वाच्य पदार्थ की

प्रतीति होती है। अर्थात् 'गौ' शब्द-स्वरूप के द्वारा जो कहा जा रहा है, उससे यह पदार्थ अभिन्न है। इस प्रकार 'गौ' शब्द सर्वप्रथम अपने स्वरूप से ही अर्थवान् है। और तब तादात्म्य-संबन्ध द्वारा बाह्य अर्थ पर इसका अध्यारोप किया जाता है। उस स्थिति में स्वरूप-अर्थ बाह्य अर्थ के प्रति गौण हो जाता है, यह पहले कह चुके हैं। षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भेद संबन्ध के आधार पर वाच्य वाचक भाव को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है *(अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते – वा.प., III. 3.3)*। 'गौः अस्य पिण्डस्य वाचकः' या 'अयं पिण्डः गोशब्दस्य वाच्यः', ऐसा प्रयोग भेद (व्यतिरेक) के आधार पर शब्द-स्वरूप और बाह्यार्थ का संबन्ध दिखलाता है। 'वृद्धि आदैच् की संज्ञा है' अथवा 'वृद्धि शब्द का संज्ञी (अर्थ) आदैच् है' जैसे प्रयोग भी इसी प्रकार के हैं। ऐसे प्रयोगों में वाचक शब्द और वाच्य अर्थ, दोनों को भिन्न-भिन्न मानकर उनका परस्पर संबन्ध स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ भी जब हम 'गौ इस पिण्ड का वाचक है' कहते हैं तो गौ का प्रयोग शब्द-स्वरूप के लिए ही होता है। इसी प्रकार 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अपनी आनुपूर्वी के लिए ही होता है। इससे स्पष्ट है कि शब्द अपने स्वरूप से जुड़ा रहकर ही वाच्य-वाचक-संबन्ध से पष्ठी के योग्य होता है अथवा अभेद-संबन्ध से अध्यारोप के द्वारा प्रथमा का निमित्त बनता है। इस प्रकार शब्द का अपना स्वरूप भी उसका अर्थ है, यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

पाठ - 6

कारिका 68 - 81

68. स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते।
जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते।।

69. संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते।।

अनु.:- कुछ आचार्यों के अनुसार 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (*अष्टा.* 1.1.68) में व्यक्ति जाति की संज्ञा है और (व्यक्ति से) संसृष्ट जाति (व्याकरण-संबन्धी) कार्यों को प्राप्त करती है। अन्य आचार्य सूत्र के द्वारा ग्राह्य संज्ञी को व्यक्ति मानते हैं और (संज्ञाभूत) जाति के द्वारा प्रत्यायित व्यक्ति विधिप्रदेशों में (*अग्नेर्ढक्* आदि में अथवा उदाहरणों में) कार्यों के लिए प्रस्तुत होती है।

व्या.:- 'स्वं रूपम्' सूत्र में निर्दिष्ट संज्ञा और संज्ञी का भेद करते हुए अभी तक हमने सूत्र का व्याख्यान इस आधार पर किया कि शब्द अपनी ग्राह्यत्व शक्ति द्वारा संज्ञा के रूप में अपने समान शब्दरूप का ग्रहण कराता है। अब, प्रस्तुत कारिकाओं में व्यक्ति और जाति की दृष्टि से सूत्र में संज्ञा और संज्ञी में अन्तर किया गया है। जब शब्द ही संज्ञा और संज्ञी है तो सूत्रस्थ (अग्नेर्ढक् आदि में) शब्द संज्ञा है अथवा लक्ष्य (आग्नेय आदि) में स्थित शब्द? स्वोपज्ञ *वृत्ति* में 'स्वं रूपम्' सूत्र के वृत्तिकारों में प्रचलित विभिन्न मतों का उल्लेख है। *अष्टाध्यायी* के कुछ वृत्तिकार इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं – *शब्दस्य स्वं रूपं ग्राहकं भवति* (शब्द का अपना रूप ग्राहक अथवा संज्ञा है)। अन्य वृत्तिकारों के अनुसार सूत्र की व्याख्या है – *शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं भवति* (शब्द का अपना रूप ग्राह्य है)।

जाति और व्यक्ति के प्रश्न पर अत्यन्त संक्षेप में चर्चा यहाँ अप्रासंगिक न होगी। शब्द को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। या तो उसका अर्थ व्यक्ति हो सकता है अथवा जाति। यदि 'गो' शब्द किसी विशेष गौ का अभिधान करे तो किसी दूसरी गौ के अभिधान के लिए एक अन्य शब्द की आवश्यकता होगी। इसलिए जातिवादी मानता है कि सभी गो-व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान गोत्व जाति के आधार पर ही 'गो' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः शब्द का अर्थ जाति है। दूसरी ओर, व्यक्तिवादी के अनुसार जब हम 'गाय लाओ' कहते हैं तो गो-व्यक्ति को लाया जाता है, गो-जाति को नहीं। जिस प्रकार जाति का अन्य जातियों से पार्थक्य स्वतः ही होता है उसी प्रकार व्यक्ति भी अन्य व्यक्तियों, जैसे कर्म आदि से स्वतः भिन्न होती है इसके लिए जाति की आवश्यकता नहीं। व्यवहार में उपलब्ध गौ व्यक्ति ही है, जाति नहीं। इसलिए गो-व्यक्ति स्वतः गौ है, गोत्व जाति के कारण नहीं। 'यह वही है' इस प्रकार की एकाकार बुद्धि के आधार पर जाति तो बाद में अनुमान द्वारा उपलब्ध होती है। ऐसा नहीं है कि व्यक्ति को अर्थ मानने वाले जाति को नहीं मानते या जाति को मुख्यार्थ मानने वाले व्यक्ति-अर्थ नहीं मानते। अर्थ तो दोनों ही हैं किन्तु एक मुख्य अर्थ है, दूसरा आक्षिप्त। जाति मुख्य है और उससे व्यक्ति की प्रतीति होती है, अथवा व्यक्ति मुख्य है और उससे जाति की प्रतीति होती है, इस प्रकार का दृष्टिभेद ही इस मतभेद का कारण है। इन दो पक्षों का आश्रय लेकर सूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की गई हैं।

एक मत यह है कि सूत्र में पठित शब्द व्यक्तिपरक है और संज्ञा अर्थात् ग्राहक है। 'अग्नेर्ढक्' सूत्र में पठित अग्नि-शब्द व्यक्ति का वाचक है और यह व्यक्ति-अग्नि-शब्द अर्थ के रूप में शब्दजाति का ग्रहण कराता है। अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित 'अग्नि' शब्द में एक अग्निशब्दत्व है जिसे हम अग्निशब्दसामान्य कह सकते हैं। 'स्वं रूपं' सूत्र पर *महाभाष्य* की व्याख्या में कैयट भी कहते हैं – रूपशब्देन चेहाग्निशब्दत्वादिकं शुकसारिकापुरुषोदीरितभिन्नशब्दव्यक्तिसमवेतं सामान्यमभिधीयते। (*महाभाष्य* 1.1.68 पर *प्रदीप*)। अब 'स्वं रूपं शब्दस्य' में शब्द का अर्थ है शब्दरूप व्यक्ति और स्वं रूपं का अर्थ है शब्दजाति। यहाँ 'ग्राह्य' अथवा 'प्रत्याय्य' का अध्याहार करके 'शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं भवति' यह अर्थ निकलता है; अर्थात् 'शब्दरूप व्यक्ति से स्वरूप अर्थात् शब्दजाति का ग्रहण किया जाना चाहिए'। इस प्रकार 'अग्नेर्ढक्' में स्थित 'अग्नि' शब्द से स्वरूप का अर्थात् अग्निशब्दजाति का ग्रहण होना चाहिए, यह सूत्रार्थ निकलता है। अतः शब्द से बाह्य अर्थ नहीं अपितु शब्दजाति ग्राह्य है। इस प्रकार यहाँ अग्निशब्द संज्ञा है और अग्निशब्दत्व संज्ञी है। व्याकरण की प्रक्रिया संज्ञा पर नहीं होती, अपितु संज्ञी पर होती है। संज्ञीभूत जाति अपने आश्रयरूप व्यक्तियों के माध्यम से कार्य को प्राप्त करती है क्योंकि जाति व्यक्ति से संसृष्ट हुए बिना उच्चारण में भी नहीं आती। अतः अग्निशब्द के जितने भी उदाहरणों में 'ढक्' प्रत्यय जुड़ता है उन सभी का ग्रहण उस जाति के अन्तर्गत होता है।

दूसरे पक्ष के अनुसार, यहाँ व्यक्ति संज्ञी है और जाति संज्ञा है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ हुआ – *स्वं रूपं शब्दस्य बोधकम् स्व रूप* अर्थात् शब्दजाति शब्दव्यक्ति की (शब्दस्य) बोधक है। इस व्याख्यान के अनुसार स्वरूप संज्ञा है और जातिपरक है, उसके द्वारा बोध्य संज्ञी शब्द-व्यक्ति है। 'अग्नेर्ढक्' सूत्र में सूत्रस्थ 'अग्नि' शब्द शब्दजाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ अथवा संज्ञी है – अग्निशब्दव्यक्ति। जाति द्वारा प्रत्यायित व्यक्ति ही विभिन्न स्थलों पर अर्थात् विभिन्न उदाहरणों में व्याकरण-संबन्धी प्रक्रिया के लिए उपस्थित होती है। इस प्रकार कहीं व्यक्ति को प्रधान माना गया है और कहीं जाति को, यद्यपि फल में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि व्यक्ति सामान्य से जुड़े रहकर ही कार्य से जुड़ता है और जाति भी व्यक्ति के माध्यम से ही कार्य से जुड़ती है।

इस प्रकार, एक ही अग्निशब्द जाति और व्यक्ति के भेद से संज्ञा भी हो जाता है और संज्ञी भी। वस्तुतः जैसा *वृत्ति* (पृ. 69) में कहा गया है, शब्द अनेक अवयवों का समुदाय है। इसमें स्वरूपार्थ, बाह्यार्थ, जाति-व्यक्ति, कर्तृ-शक्ति, करण-शक्ति आदि शक्तियाँ

समाविष्ट हैं। कभी-कभी हम समुदाय और उसके अवयवों को अलग-अलग करके देखते हैं। यद्यपि शाखा वृक्ष से भिन्न नहीं है फिर भी हम 'वृक्ष की शाखा', ऐसा प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार हम शब्द के अर्थ को स्वरूपार्थ बाह्यार्थ, संज्ञा-संज्ञी आदि के रूप में पृथक्-पृथक् देखते हैं।

70. कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः॥

अनु.:- शब्द को नित्य या कार्य मानने वाले (दोनों) पक्षों में कुछ लोग शब्द को एक मानते हैं और दोनों ही पक्षों में शब्द को अनेक मानने वाले भी कुछ विद्वान् हैं।

व्या.:- शब्द एक है या अनेक? शब्द के विषय में मुख्यतः दो पक्ष हैं। एक के अनुसार शब्द नित्य है। प्रत्येक उच्चारण के समय यह उत्पन्न नहीं होता, केवल अभिव्यक्त होता है। दूसरे के अनुसार, प्रत्येक उच्चारण के साथ शब्द उत्पन्न होता है, अतः शब्द कार्य है। शब्द को नित्य मानने और एक मानने में गहरा संबन्ध है क्योंकि हर अवसर पर यदि शब्द भिन्न होगा तो उसकी नित्यता कैसे होगी। इसलिए वर्णवादी मीमांसक भी भिन्न-भिन्न शब्दों में उपलब्ध वर्ण को एक ही मानते हैं। वार्तिककार एवं भाष्यकार भी कहते हैं कि विभिन्न स्थानों, जैसे अक्षरसमाम्नाय में, धातु, प्रातिपदिक आदि में वही 'अ' उपलब्ध होता है - एकत्वादकारस्य सिद्धम् (*महाभाष्य*, प्रत्याहाराह्निक)। जैसे एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न देशों में दिखलाई देती है उसी प्रकार वही शब्द अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। इस प्रकार शब्द का एकत्व मानने पर जाति-व्यक्ति जैसा भेद संभव नहीं। दूसरी ओर, नित्यशब्दवादियों में भी एक मत यह है कि एक समान रूप वाले भिन्नार्थक शब्द भिन्न हैं, जैसे गो-शब्द गाय, सूर्य की किरणों, पृथ्वी आदि अर्थों का वाचक है। कुछ आचार्यों के मत में प्रत्येक अर्थ का वाचक गो-शब्द भिन्न है जबकि अन्य के अनुसार वहाँ भी एक ही शब्द है जो अनेक अर्थों का वाचक है।

कार्यशब्दवादियों में भी एक पक्ष ऐसा है जो प्रतीति के आधार पर शब्द की अभिन्नता मानता है। यद्यपि वे प्रत्येक उच्चारण में शब्द को उत्पन्न होता हुआ मानते हैं तो भी 'यह वही (गो) शब्द है' (जो मैंने राम से सुना था), इस प्रकार की प्रतीति के आधार पर उस शब्द को एक ही मानते हैं। इस एकत्व को हम एक प्रकार का गौण एकत्व कह सकते हैं। अनेकशब्दवादियों के मत में यहाँ भी शब्द अनेक हैं और भिन्न अर्थ वाले शब्द तो समानरूप होते हुए भी भिन्न-भिन्न ही हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में स्थित वर्ण– जैसे अश्व, अर्क, अग्नि आदि में स्थित अकार – प्रत्येक अवसर पर एक पृथक् वर्ण है।

वैयाकरणों के संप्रदाय में शब्द नित्य और एक है।

71. पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥

अनु.:- पद के भिन्न होने पर भी वर्ण का एकत्व समाप्त नहीं होता और भिन्न-भिन्न वाक्यों में भी एक ही पद उपलब्ध होता है।

व्या.:- इस मत के अनुसार भिन्न-भिन्न पदों में प्रयुक्त वर्ण, जैसे अश्व, अर्क, अर्थ आदि में प्रयुक्त अकार, एक ही है जो बार-बार दुहराया जाता है। भिन्न-भिन्न देश और स्थानों अथवा भिन्न-भिन्न शब्दों में यही अकार उच्चरित होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देश और काल में भिन्न-भिन्न वाक्यों के उच्चरित पद भी वही हैं क्योंकि हमें ऐसा ही अनुभव होता है, वैसे ही जैसे एक वस्तु भिन्न-भिन्न दर्पणों में प्रतिबिम्बित होने पर भी वही रहती है। यदि समानरूप पद भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हो तब भी वह एक ही माना जाता है। यहाँ तक कि यदि वह पद एक अर्थ में संज्ञा और दूसरे अर्थ में क्रिया हो तब भी उस शब्द का एकत्व समाप्त नहीं होता। वृषभदेव द्वारा प्रस्तुत एक उदाहरण लें। 'अक्षि' शब्द नेत्र के अर्थ में संज्ञा के रूप में प्रसिद्ध है। किन्तु 'अक्ष्' अथवा 'अश्' धातु से लट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन में क्रिया के रूप में भी 'अक्षि' शब्द की सिद्धि होती है। प्रस्तुत मत में ये दोनों प्रकार के 'अक्षि' शब्द एक ही हैं।

इस प्रकार जब भिन्न-भिन्न पदों में उपलब्ध वर्ण अथवा भिन्न-भिन्न वाक्यों में उपलब्ध पद एक ही हैं तो स्पष्ट है कि वे नित्य हैं और अलग-अलग अवसरों पर वे ही वर्ण अथवा पद उन्हें अभिव्यक्त करने वाले निमित्तों के कारण उपलब्ध होते हैं। इसका एक अर्थ यह हुआ कि वर्णों से भिन्न कोई पद और पदों से भिन्न कोई वाक्य नहीं है। इसी बात को अगली कारिका में कहा गया है–

72. न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन॥

अनु.:- वर्ण के अतिरिक्त किसी पद की पृथक् सत्ता नहीं है। इसी प्रकार वाक्य भी वर्ण और पद से भिन्न कुछ नहीं है।

व्या.:- मीमांसक मानते हैं कि शब्द नित्य है, एक है और वर्ण ही उसमें चरम सत्ता है। वर्ण को वे अर्थवान् इकाई मानते हैं क्योंकि पदों में वर्ण की भिन्नता से पद का अर्थ भी बदल जाता है। जैसे कूप, यूप और सूप, इन पदों में प्रारम्भिक वर्ण मात्र के भेद से अर्थ का भी भेद हो जाता है। इस प्रकार वर्णों का समूह ही पद है और पदों का समूह ही वाक्य है। पद और वाक्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। *मीमांसासूत्र* 1.1.5 पर भाष्य में शबरस्वामी कहते हैं कि 'ग्' आदि वर्णों से भिन्न कोई गो-शब्द, प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता। अतः वर्ण ही पद हैं, उनसे भिन्न कोई पद नहीं (*न च प्रत्यक्षो गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्द इति ... गकारादीनि हि प्रत्यक्षाणि। ... तस्मादक्षराण्येव पदम्*)। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति भी कहते हैं कि वाक्य वर्णों से भिन्न नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती–

वाक्यं न भिन्नं वर्णेभ्यो विद्यतेऽनुपलम्भनात्। – *प्रमाणवार्तिक*, 1.247.

किन्तु वैयाकरणों को यह मत अभीष्ट नहीं। पतञ्जलि यह चर्चा तो करते हैं कि इन पदों में अकेले वर्ण के परिवर्तन से भेद हो जाता है फिर भी हम स्पष्ट देखते हैं कि यदि वर्णों को अलग कर दें तो न तो 'ऊप' का कोई अर्थ निकलता है न ही 'क्', 'स्', 'य्' का। अत: वर्णों को अर्थवान् नहीं कहा जा सकता। महाभाष्यकार ने रथ का उदाहरण देते हुए (*म.भा.*, 1.2.45, पृ. 220) कहा है कि रथ अपने संपूर्ण रूप में ही चलने का कार्य करता है, उसके अवयवों को अलग-अलग कर देने पर उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार पद या वाक्य अपनी समग्रता में ही अर्थवान् हैं, अलग-अलग करने पर नहीं। इसलिए वैयाकरण के मत में पद मात्र वर्णसमूह नहीं है और वाक्य केवल पदों का समूह नहीं है। चरम सत्ता तो वाक्य की ही है। अगली कारिका में *भर्तृहरि* यही कहेंगे।

वैयाकरण मत

73. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

अनु.:- पद में वर्णों की सत्ता नहीं है, न ही वर्णों में अवयव हैं। वाक्य से पदों का आत्यन्तिक भेद (प्रविवेक) नहीं है।

व्या.:- पद में वर्णों की सत्ता अथवा वाक्य में पदों की सत्ता केवल समझने की सुविधा के लिए किया हुआ विश्लेषण है। भाषा का उद्देश्य है वक्ता के तात्पर्य को संप्रेषित करना और यह कार्य वाक्य से ही हो सकता है। अत: वैयाकरण के मत में वाक्य एक अखण्ड सत्ता है जिससे अर्थ का अभिधान होता है। यदि वाक्य को पदों में और पदों को वर्णों में विभाजित करें तो वहीं रुकने का कोई कारण नहीं है। वर्णों को भी वर्णभागों में विभाजित किया जा सकता है, जैसा कि पाणिनि ने भी कहा है - *'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'* (स्वरित स्वर का प्रथम आधा ह्रस्व भाग उदात्त है और शेष अनुदात्त)। 'ए ओ ऐ औ' जैसे संध्यक्षरों में ऐसे भागों की प्रतीति भी होती है जैसे 'ए' में 'अ+इ'। किन्तु ये सभी भाग क्रमश: उच्चरित होने के साथ-साथ नष्ट हो जाएँगे और इनका यौगपद्य संभव न होगा। फिर तो न वर्णों की सत्ता होगी न पदों की और समस्त व्यवहार का उच्छेद हो जाएगा। किन्तु फिर भी वर्ण का एकत्व तो निर्विवाद रूप से माना जाता है। इसी प्रकार पदों और वाक्यों का एकत्व भी मानना चाहिए क्योंकि जब हमें कहीं रुकना ही है तो वक्ता के तात्पर्य को संप्रेषित करने वाली इकाई अर्थात् वाक्य पर रुकना ही उचित है। यही बात द्वितीय काण्ड में भर्तृहरि कहते हैं–

पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात्परमाणुवत्॥ – *वा.प.*, 2.28.

वाक्य को पदों में, अथवा पद को प्रकृति-प्रत्यय के रूप में बाँटने का कार्य केवल शास्त्रीय व्याख्या है। वास्तविक भाषा में शब्द का अर्थ एक इकाई के रूप में गृहीत होता है। इसलिए वैयाकरण वाक्य को ही चरम सत्य मानते हैं। इसीलिए तृतीय काण्ड में भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थ का कहीं कोई साम्य देखकर वाक्य में पदों की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार पद में धातु की और धातु में भी विभागों की कल्पना की जाती है, जैसे 'मुण्डयति' में मुण्ड् धातु और णिच् (इ) प्रत्यय की कल्पना या 'पुत्रीयति' में पुत्र के साथ क्यच् प्रत्यय जोड़कर 'पुत्रीय' धातु की रचना शास्त्रीय कल्पना मात्र हैं–

अर्थस्यानुगमं कञ्चिद् दृष्ट्वैव परिकल्पितम्।
पदं वाक्ये पदे धातुः धातौ भागश्च मुण्डिवत्॥ -*वा.प.*, 3.14.75.

74. भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।
तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः॥

अनु.:- भिन्न-भिन्न दृष्टि का आश्रय लेकर (शास्त्रीय) व्यवहार चलता है, उस प्रसंग में जो एक पक्ष के लिए मुख्य है वह अन्य के लिए गौण है।

व्या.:- प्रश्न उठता है कि जो लोग वर्ण को ही चरम सत्य मानते हैं वे पद एवं वाक्य की बात कैसे करते हैं और जो लोग वाक्य को ही मानते हैं वे वर्ण और पद में भेद कैसे करते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि व्यवहार भिन्न-भिन्न दृष्टि के आधार पर चलता है। वैयाकरण के अनुसार शब्द एक है, क्रमरहित है और बुद्धि में निहित है; फिर भी हम उच्चरित बाह्य शब्द को भी शब्द कहते हैं। एक पक्ष के अनुसार यदि श्रुति की दृष्टि से शब्द का स्वरूप एक है तो अर्थ की भिन्नता होने पर भी वह एक ही शब्द है। जैसे, भाष्यकार उदाहरण देते हैं कि एक ही शब्द अनेक अर्थ वाला होता है : *एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षा: पादा: माषा:* (*अष्टा.* 1.2.45 पर *म.भा.*), अर्थात् एक ही शब्द अनेक अर्थ वाला होता है। 'पाद' शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे पाँव, श्लोक का चरण, किसी वस्तु का चौथाई भाग, एक प्रकार का माप। 'माष' काले चने को भी कहते हैं, तिल को भी, वजन को भी। एक अन्य प्रसंग में पतञ्जलि कहते हैं कि 'ग्राम' शब्द के अनेक अर्थ हैं किन्तु यहाँ अरण्य से युक्त, सीमाओं से घिरे हुए, स्थण्डिल-संपन्न अर्थ में जो 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त होता है, उसका ग्रहण है– *"तद्य: सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्"* (*म.भा.*, 1.1.7)। एक मत यह भी है कि ध्वनि की समानता होने पर भी यदि अर्थ में भेद है तो प्रत्येक अर्थ का वाचक शब्द एक भिन्न शब्द है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टि से शास्त्रीय व्यवहार चलते हैं। इसीलिए जो पद की सत्ता अन्तिम रूप से नहीं मानते वे भी व्यावहारिक दृष्टि से पद का विश्लेषण करते हैं। निरुक्तकार पद के चार विभाग करते हैं - *"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।"* वे यह भी कहते हैं कि आख्यात भावप्रधान है और नाम

सत्वप्रधान। इस प्रकार के विभाग वैयाकरण भी स्वीकार करते हैं। भेद यही है कि जो एक पक्ष के लिए मुख्य है, वह दूसरे पक्ष के लिए गौण है।

75. स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥

अनु.:- जो कालभेद से रहित है किन्तु ध्वनियों के काल का अनुवर्तन करता सा प्रतीत होता है ऐसे स्फोट में वृत्ति (स्थिति) के भेद (द्रुत, मध्य, विलम्बित आदि) की व्याख्या ग्राहक उपाधियों (ध्वनियों) के भेद के आधार पर की जाती है।

व्या.:- इस कारिका में एवम् अगली कुछ कारिकाओं में स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार स्फोट में क्रमभेद न होने पर भी ध्वनि के भेद के अनुसार स्फोट का भेद मान लिया जाता है। स्फोट बुद्धि में एक इकाई के रूप में विद्यमान है। शब्द के बोलने में तो ध्वनियों का क्रम है किन्तु ज्ञान में तो शब्द अक्रम इकाई के रूप में गृहीत होता है। 'कमल' शब्द में पहले 'क', फिर 'म' और फिर 'ल' का उच्चारण होता है जबकि 'कलम' में पहले 'क', फिर 'ल' और अन्त में 'म' का। किन्तु दोनों का भेद मात्र यही नहीं है कि एक में 'म' पहले है और दूसरे में 'ल'। वस्तुतः दोनों स्फोट भिन्न हैं और अपने आप में अखण्ड हैं। 'यह एक शब्द है', 'यह एक वाक्य है', इस प्रकार की प्रतीति स्फोट की अक्रमता और एकत्व का प्रमाण है। स्फोट शब्दात्मा हो अथवा ज्ञान में स्थित वाक्य अथवा पद या वर्ण के रूप में हो (अथवा ध्वनि-जाति हो – देखें इस कारिका की व्याख्या के अन्त में एस.डी. जोशी का मत), यह नित्य है और नित्य पदार्थ में कालगत भेद नहीं हो सकता। तथापि स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियों द्वारा और उनसे मिश्रित रूप में होती है। एक आधुनिक भाषाविद् का यह कथन भी इस संबन्ध में द्रष्टव्य है कि ध्वनियाँ स्वतः भाषा नहीं हैं किन्तु भाषा ध्वनियों से युक्त है (Sounds in themselves do not constitute language, yet the spoken language consists of them. –Mario Pei : *The Study of Language*, George Allen Unwin, London, Second Edition, 1966)। हमारे लिए ध्वनियों से संसृष्ट हुए बिना स्फोट की उपलब्धि संभव ही नहीं है। अतः इन ध्वनियों का काल स्फोट की स्थिति का काल मान लिया जाता है। इसे ही कारिका में वृत्तिभेद कहा है। जैसा हम आगे स्पष्ट करेंगे, प्राकृत ध्वनि के संदर्भ में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और वैकृत ध्वनि के संदर्भ में द्रुत, मध्य और विलम्बित जैसे भेद होते हैं। द्रुत, मध्य और विलम्बित जैसे भेद स्फोट की उपलब्धि के काल का कारण बनते हैं। इन भेदों को स्पष्ट करते हुए कैयट बतलाते हैं कि द्रुत उच्चारण में पानी की नौ बूँदें नाली से निकलती हैं जबकि मध्य और विलम्बित में इन बूँदों की संख्या क्रमशः बारह और सोलह होती है (म. भा. प्रदीप, 1. 1.70)। नागेश ने इस विषय में परमलघुमञ्जूषा में निम्नलिखित उद्धरण दिया है–

अभ्यासार्थे द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता।
शिष्याणामुपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता॥

इस प्रकार बुद्धि में नित्य स्थित होते हुए भी हम स्फोट को कालयुक्त मान बैठते हैं (अतश्च सदावस्थानेऽपि ध्वनिस्थितिकालमेवानुवर्तन्ते –पद्धति, पृ. 141)। भर्तृहरि नाद और स्फोट के लिए जल और उसमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त भी पहले दे चुके हैं (देखें वा. प., I. 49.)।

एस.डी. जोशी (1967 : पृ. 30-55) के अनुसार स्फोट से भर्तृहरि का तात्पर्य भाषा के प्रभेदक अथवा वर्णात्मक स्तर से है। भर्तृहरि का स्फोट वर्ण अथवा ध्वनि-जाति (class sound) के रूप में है और ध्वनि से उनका तात्पर्य व्यक्तिरूप ध्वनि अथवा उच्चरित ध्वनि से है (1967 : पृ. 46-47)। वक्ता जिस ध्वनि को बोलता है वह उच्चरित ध्वनि है किन्तु श्रोता जिसे ग्रहण करता है वह ध्वनि-जाति अथवा वर्ण-जाति है जो द्रुत, विलम्बित आदि भेदों से निरपेक्ष रूप में गृहीत होती है। जोशी के अनुसार भर्तृहरि का स्फोट अर्थवान् इकाई नहीं है (1967 : पृ. 40, 46)। किन्तु अधिकांश विद्वान् उनसे सहमत नहीं हैं। अय्यर (1969 : पृ. 157) के शब्दों में, "ध्वनि वे शब्द हैं जिन्हें वक्ता उच्चारित करता है और जो वास्तविक शब्द के निमित्त – अभिव्यञ्जक – हैं और स्फोट वह वास्तविक शब्द है जो ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होकर अर्थ को व्यक्त करता है। यह शब्द का अर्थवाहक पक्ष है।"

76. स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥

अनु.:- शब्द को नित्य मानने पर (नित्यत्वे) स्वभावतः भेद होने के कारण जो ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हैं उनमें प्राकृत ध्वनि का काल शब्द पर आरोपित कर दिया जाता है।

77. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥

अनु.:- शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर वैकृत ध्वनियाँ वृत्ति के भेद (उच्चारण की गति) को उत्पन्न करती हैं किन्तु स्फोट का स्वरूप उनसे प्रभावित नहीं होता।

व्या.:- ध्वनि दो प्रकार की है – प्राकृत और वैकृत। स्फोट को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि प्राकृत ध्वनि है और उस अभिव्यक्त स्फोट-स्वरूप की निरन्तर लम्बे समय तक उपलब्धि कराने वाली ध्वनि वैकृत ध्वनि है (तत्र प्राकृतो नाम येन विना स्फोटरूपानभिव्यक्तं

न परिच्छिद्यते। वैकृतस्तु येनाभिव्यक्तं स्फोटरूपं पुनः पुनरविच्छेदेन प्रचिततरं कालमुपलभ्यते। – वृत्ति, पृ. 142)। इन दोनों का भेद व्याडि के संग्रह से *वृत्ति* में उद्धृत एक कारिका में स्पष्ट किया गया है –

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते।।

अर्थात् शब्द के ग्रहण में प्राकृत ध्वनि ही कारण है और स्थितिभेद (शब्द की निरन्तरता में होने वाले भेद) का कारण वैकृत ध्वनि है।

प्राकृत ध्वनि का उच्चारण शब्द की अभिव्यक्ति के लिए होता है। इसके बिना स्फोट के स्वरूप का ग्रहण नहीं हो सकता। ध्वनि और स्फोट का ग्रहण एक साथ ही होता है, अतः स्फोट ध्वनि की प्रकृति मान लिया जाता है और प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण प्रथम क्षण में स्फोट को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि को प्राकृत कहते हैं। जिस प्रकार बत्तीस अक्षरों वाला कोई श्लोक सरल पदों वाला होने के कारण तुरन्त गृहीत हो जाता है जबकि उतना ही बड़ा दूसरा श्लोक कठिन पदों अथवा कठिन संरचना वाला होने के कारण अनेक आवृत्तियों में गृहीत होता है उसी प्रकार वस्तुतः यह स्फोट का स्वभावभेद है कि कोई वर्ण, जैसे 'अ', अपचित अर्थात् क्षीण ध्वनि से व्यक्त हो जाता है जबकि कोई प्रचित या प्रचिततर ध्वनि से व्यक्त होता है जैसे दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्राकृत ध्वनि के भेद हैं। ये भेद स्फोट के नहीं हैं क्योंकि स्फोट तो सब प्रकार के कालभेद से रहित है। 'अ' और 'आ' के मानस संप्रत्यय (स्फोट) में कालिक भेद नहीं है। फिर भी 'अ' स्फोट भिन्न है और आ-स्फोट भिन्न। उनके उच्चारण में भी उस भेद की प्रतीति होती है। प्राकृत ध्वनि का काल ही यह बतलाता है कि 'अ' की अभिव्यक्ति हुई है, 'आ' की नहीं। दोनों को व्यक्त करने वाली ध्वनियाँ भिन्न हैं फिर भी कालभेद की दृष्टि से ह्रस्व, दीर्घ आदि संज्ञाएँ व्यवहार के लिए बना कर उन्हें एक ही स्वर का भेद कह दिया जाता है। प्राकृत ध्वनि की कालावधि स्फोट में प्रतीत होने का कारण प्राकृत ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य मान लेना है। यह तादात्म्य भले ही भ्रान्ति हो किन्तु यह एक आवश्यक भ्रान्ति है। इसके बिना स्फोट की अभिव्यक्ति संभव नहीं। इस प्रकार अभिव्यंजक के धर्म अभिव्यक्त के धर्म बन जाते हैं और प्राकृत ध्वनि के भेद स्फोट – उदाहरण के लिए 'अ' वर्णरूपी स्फोट – के भेद मान लिये जाते हैं। यह स्मरणीय है कि यद्यपि भर्तृहरि अन्तिम रूप से ***वाक्यस्फोट*** को मानते हैं तथापि वे स्फोट (बुद्धिगत प्रत्यय) के रूप में वर्ण और पद की भी बात करते हैं *(वर्णपदवाक्यविषया... ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् ... बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति। –वा.प.*, 1.82 पर *वृत्ति*, पृ. 148)।

'प्लुतादिषु' में आदि का तात्पर्य है कि अनुनासिक, निरनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त आदि भेद भी स्फोट पर आरोपित होते हैं।

किन्तु वैकृत ध्वनि के भेद तो भ्रमवश भी स्फोट पर आरोपित नहीं होते। प्राकृत ध्वनि से उत्पन्न ध्वनि वैकृत ध्वनि कहलाती है। यह प्राकृत ध्वनि से उत्पन्न अनुगूँज (अनुरणन) है *(प्राकृतध्वनिभिरभिव्यक्ते शब्दतत्त्वेऽनुरणनरूपा ये पश्चात्कालभाविनो ध्वनयः ..... –* हेलाराजकृत *प्रकीर्णकप्रकाश, वा.प.*, 3.9.67 पर)। कोई वक्ता धीरे बोलता है, कोई मध्यम गति से और कोई द्रुतगति से। ध्वनि की अवधि के ये भेद स्फोट की अभिव्यक्ति के अनन्तर उसकी निरन्तरता में कारण बनते हैं। आकाश में चमकने वाली बिजली के आलोक में हम किसी वस्तु को क्षण भर के लिए देख पाते हैं जबकि दीपक या ट्यूबलाइट के प्रकाश में वस्तु का प्रत्यक्ष बना रहता है। वह बना रहने वाला प्रकाश वस्तु के किसी अन्य धर्म का ग्राहक नहीं होता। इसी प्रकार विलम्बित गति से बोले गए स्फोट की उपलब्धि देर तक बनी रहती है जबकि द्रुत गति से बोला हुआ शब्द थोड़े ही समय तक उपलब्ध होता है। यदि 'अ' का धीमी गति से उच्चारण किया जाए तो उस 'अ' की श्रृंखला की प्रतीति कुछ समय तक होती रहती है किन्तु स्फोट के स्वरूप पर उसका कोई प्रभाव प्रतीत भी नहीं होता क्योंकि 'यह वही अकार है' ऐसा बोध लगातार बना रहता है। प्राकृत ध्वनियाँ स्फोट की अभिव्यक्ति के साथ ही उत्पन्न होती हैं किन्तु वैकृत ध्वनियाँ तो स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद उत्पन्न होती हैं, अतः उनका स्फोट से भेद श्रोता को स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। इस प्रकार वह प्रथम ध्वनि जो स्फोट को अभिव्यक्त करती है, प्राकृत ध्वनि है किन्तु स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद भी प्रवाहरूप में उस ध्वनि की अनुगूँज बनी रहती है जो स्फोट की उपलब्धि की निरन्तरता की निमित्त है। यही वैकृत ध्वनि है। जितने समय तक वह ध्वनि बनी रहती है उतने समय तक पहले से अभिव्यक्त स्फोट की भी उपलब्धि होती है किन्तु उससे भिन्न की नहीं। इसीलिए 'तपरस्तत्कालस्य' (*अष्टाध्यायी* 1.1.70) सूत्र में ह्रस्व आदि भेदों की प्रतीति कराने के लिए तो तपरकरण किया गया है (जैसे अत् में) किन्तु द्रुत, मध्य आदि की प्रतीति के लिए ऐसा कोई विधान नहीं किया गया। इसका कारण यही है कि वैकृत ध्वनि का भेद मिथ्या रूप में भी स्फोट पर आरोपित नहीं होता। वैकृत ध्वनि ध्वनियों का व्यक्तिगत रूप है जिसके उच्चारण प्रत्येक वक्ता में भिन्न-भिन्न होते हैं। पतञ्जलि (म. भा., 1.1.70) इस संबन्ध में एक दृष्टान्त देते हैं। नगाड़े पर चोट करने पर किसी का शब्द बीस कदम तक पहुँचता है किसी का तीस कदम और किसी का चालीस कदम। मूल शब्द (स्फोट) नहीं है किन्तु (उपलब्धि के काल में) वृद्धि ध्वनि के कारण होती है – "तद् यथा भेर्याघातः। भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशतिं पदानि गच्छति कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटश्च तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।"

इस प्रकार बुद्धि में एक इकाई के रूप में अविभाजित आन्तर शब्द को स्फोट कहा गया है जबकि उसे व्यक्त करने वाली क्रमिक ध्वनियाँ प्राकृत ध्वनियाँ हैं और उन प्रथम ध्वनियों की अनुगूँज या अनुरणन वैकृत ध्वनियाँ हैं। कुंजुन्नी राजा (1969 : पृ. 14-15, पृ. 120, पृ. 148) के अनुसार वैकृत ध्वनि वक्ता द्वारा वस्तुतः उच्चारित और श्रोता द्वारा सुनी हुई ध्वनियाँ हैं और प्राकृत ध्वनि उच्चारण से पूर्व बुद्धि में अविभाजित अथवा संरचनात्मक प्रारूप (abstract sound pattern) है। ऐसा लगता है कि उनके मत में उच्चारण से पूर्व

वक्ता के मानस में शब्द के लिए निर्धारित ध्वनियों का क्रम प्राकृत ध्वनि है और स्फोट वह स्थिति है जहाँ शब्द और अर्थ का भेद नहीं है क्योंकि कुंजुन्नी राजा (1969: पृ. 15, पृ. 148) वैकृत ध्वनि, प्राकृत ध्वनि और स्फोट को क्रमश: वैखरी, मध्यमा और पश्य के समकक्ष मानते हैं और प्राकृत ध्वनि को मानस अभिव्यक्ति (expression in mind - पृ.120) कहते हैं। किन्तु स्फोट को पश्यन्ती के समकक्ष मानने और साथ ही उसे प्रत्यक्ष-योग्य मानने (देखें, कुंजुन्नी राजा: 1969: पृ. 130-31) में विसंगति दिखलाई देती है। वस्तुतः कुंजुन्नी राजा आधुनिक भाषाविद् सास्यूर की speech sounds और physical sounds की अवधारणा को *प्राकृतध्वनि* और *वैकृतध्वनि* पर लागू कर रहे हैं। अब, *प्राकृत ध्वनि* को जाति-ध्वनि तो कहा जा सकता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न वक्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में उच्चारित ध्वनियाँ उन्हीं वर्णों अथवा शब्दों का ग्रहण कैसे कराती हैं किन्तु *वृत्ति* में *भर्तृहरि* ने प्राकृत ध्वनि का वर्णन जिस रूप में किया है उसके अनुसार उसे केवल मानस अथवा बुद्धिगत (mental acoustic image) नहीं कहा जा सकता।

78. इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥

अनु.:- ध्वनियों द्वारा केवल इन्द्रिय का अथवा केवल शब्द का या फिर दोनों का संस्कार किया जाता है; ये अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत हैं।

व्या.:- स्फोट ध्वनियों द्वारा उत्पन्न होता है यह उत्पत्तिवादियों का मत है। किन्तु स्फोट को नित्य मानने वालों के मत में स्फोट बुद्धि में सदा स्थित है, ध्वनि उसे केवल अभिव्यक्त करती है। ये लोग अभिव्यक्तिवादी हैं। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ध्वनि सहकारी कारण है। यह किस प्रकार स्फोट की अभिव्यक्ति में कारण बनती है, इसका विवरण अब देते हैं। क्या ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय में कोई नवीन शक्ति उत्पन्न करके अथवा विद्यमान शक्ति को प्रबोधित करके इस प्रकार संस्कारित करती हैं जिससे वह शब्द को ग्रहण करे? अथवा क्या वे शब्द में इस संस्कार का आधान करती हैं? इस विषय में *भर्तृहरि* तीन मत देते हैं – (1) ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय का संस्कार करती हैं; (2) ध्वनियाँ स्फोट अर्थात् शब्द को गृहीत होने योग्य बनाती हैं; (3) ध्वनियाँ इन्द्रियों और स्फोट (स्फोट और शब्द भर्तृहरि द्वारा पर्याय के रूप में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हैं), दोनों ही का संस्कार करती हैं। अगली दो कारिकाओं में दृष्टान्तों द्वारा इन तीनों मतों को स्पष्ट करेंगे।

79. इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभिः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये॥

अनु.:- एकाग्रता और अंजन आदि के द्वारा (देखने की क्रिया में) इन्द्रिय का ही संस्कार होता है। गन्ध के ग्रहण (की प्रक्रिया) के लिए तो विषय का ही संस्कार होता है।

व्या.:- आंख में अंजन का प्रयोग इन्द्रिय को संस्कारित करने का उदाहरण है। वर्तमान युग में चश्मे का उदाहरण भी इसी बात को स्पष्ट करता है। अंजन से अथवा चश्मे के प्रयोग से नेत्र दृश्यवस्तु को देखने योग्य हो जाते हैं। एकाग्रतापूर्वक देखने या सुनने से भी विषय का ग्रहण होता है। इस प्रकार सावधानता अथवा एकाग्रता भी इन्द्रिय में योग्यता उत्पन्न करने का साधन है। विषय, अर्थात् इन्द्रियग्राह्य वस्तु में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि विषय में उससे अन्तर पड़ता तो अन्य सभी लोगों को भी उस विषय का ग्रहण उसी प्रकार होता। इसी प्रकार ध्वनियों द्वारा भी श्रवणेन्द्रिय का ही संस्कार किया जाता है, ऐसा प्रथम मत है।

तपी हुई पृथ्वी पर जल छिड़कने से उससे गन्ध निकलती है। अतः जल का छिड़काव गन्ध को उद्‌भूत करके विषय का संस्कार करता है। ओषधियुक्त तेल को सूर्य अथवा अग्नि के सम्मुख रखकर गर्म करने से उसकी गन्ध ग्रहण के योग्य हो जाती है। इनसे इन्द्रिय में कोई परिवर्तन नहीं आता; अन्यथा संस्कारयुक्त और संस्काररहित दोनों प्रकार के विषय के ग्रहण में कोई भेद नहीं होता। इसी प्रकार ध्वनियों द्वारा शब्द का संस्कार करके उसे ग्रहणयोग्य बनाया जाता है, ऐसा द्वितीय मत है।

80. चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स क्रमो ध्वनेः॥

अनु.:- चक्षु विषय तक जाकर उसका ग्रहण करता है, यह मानने पर (प्राप्यकारित्वे) प्रकाश द्वारा (अन्धकार में पड़े) विषय का और इन्द्रिय का, दोनों का ही संस्कार अभिमत है। यही क्रम ध्वनि का है।

व्या.:- चक्षु द्वारा विषय का ग्रहण किस प्रकार होता है, इस विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी है। अर्थात् नेत्रगोलक में स्थित रहते हुए ही वह बाहर स्थित घट आदि को ग्रहण करता है। इसलिए अँधेरे में खड़ा व्यक्ति जब प्रकाश में रखे घट को देखता है तो प्रकाश से चक्षु का संबन्ध तो हुआ नहीं है। केवल घट ही प्रकाश से संबद्ध हुआ है। अतः प्रकाश घट का ही संस्कार करता है, चक्षु का नहीं। किन्तु दूसरे मत में चक्षु प्राप्यकारी है। चक्षुरिन्द्रिय तेजरश्मिरूप है। जब वह प्रकाश में रखे हुए घट तक पहुंचती है तो उसके द्वारा विषय के ग्रहण की जो प्रक्रिया है उसका वर्णन वृषभदेव ने (*पद्धति*, पृ. 146) इस प्रकार किया है – सूक्ष्म नेत्ररश्मियाँ नेत्र से निकलकर विषय तक जाती हैं और मार्ग में तेज के सर्वव्यापक परमाणुओं से संबद्ध होकर सूक्ष्मतर रश्मियों के विशाल अग्रभाग को रचती हुई आलोक तक पहुँचती हैं। अपने सजातीय बाह्य आलोक से मिलकर वे घटादि विषयों का ग्रहण करती हैं। प्रकाश द्वारा घट का संस्कार तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार चक्षुरश्मियों की सामर्थ्य में वृद्धि करता हुआ प्रकाश चक्षु का भी संस्कारक है और अन्धकार के आवरण को

हटाकर विषय का भी संस्कारक है। ध्वनि का भी यही क्रम है। ध्वनियाँ बुद्धिस्थ शब्द को अभिव्यक्त कर उसे ग्राह्य बनाती हैं और श्रवणेन्द्रिय को प्रेरित करके शब्द के ग्रहण की उसकी योग्यता को उद्बुद्ध करती हैं।

स्फोट को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि की स्वयं क्या स्थिति है? स्फोट की अभिव्यक्ति के समय क्या ध्वनि स्वयं गृहीत होती है या नहीं? इस विषय में *भर्तृहरि* यहाँ तीन मत प्रस्तुत करते हैं–

81. स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः॥

अनु.:- कुछ लोगों के अनुसार ध्वनि का ग्रहण स्फोट से अपृथक् रूप में होता है। कुछ के अनुसार ध्वनि का ग्रहण होता ही नहीं, जबकि अन्य के अनुसार इसका ग्रहण स्वतन्त्र रूप में होता है।

व्या.:- कुछ विद्वानों के मत में ध्वनि का ग्रहण तो होता है किन्तु वह स्फोट से अभिन्न रूप में ही गृहीत होती है, अर्थात् यह स्फोट है और यह ध्वनि है, ऐसा पृथक्-पृथक् बोध नहीं होता। स्फटिक के समीप रखे हुए जपाकुसुम की लाली जब स्फटिक में संक्रान्त होती है तो उसके साथ एकाकार हो जाती है; उसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। इसी प्रकार स्फोट से संसृष्ट ध्वनि को अलग से ग्रहण करना संभव नहीं।

दूसरे मत को स्पष्ट करने के लिए वृत्तिकार इन्द्रियों का उदाहरण देते हैं। इन्द्रियाँ स्वयं गृहीत हुए बिना ही अपने विषय की उपलब्धि करा देती हैं। घ्राणेन्द्रिय द्वारा जब गन्ध का ग्रहण किया जाता है तो स्वयं घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार स्फोट की उपलब्धि के समय ध्वनि स्वयं गृहीत हुए बिना ही स्फोट की उपलब्धि कराती है।

तीसरे मत के पक्षधर कहते हैं कि अनेक अवसरों पर हम केवल ध्वनि को ही सुन पाते हैं किन्तु स्फोट का ग्रहण हमें नहीं होता। दूर से देखने पर वृक्ष आदि पदार्थ हमें सामान्य वृक्षाकार रूप में दिखलाई पड़ते हैं किन्तु उनके विशेष रूप का ग्रहण नहीं हो पाता। न तो यह पता चलता है कि यह पीपल है, यह आम है आदि, और न ही यह कि यह तना है, यह शाखा, और यह कोटर है, इत्यादि। इसी प्रकार दूर से सुनने पर, स्फोट का ग्रहण स्फुट रूप में न होने पर भी ध्वनि की उपलब्धि स्फोट से स्वतन्त्र रूप में होती है, ऐसा मानना चाहिए।

पाठ - 7

कारिका 82 - 93

82. यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते॥

अनु.:- जिस प्रकार कोई (वैदिक) अनुवाक अथवा श्लोक बार-बार दुहराने से बुद्धि में स्थापित हो जाता है किन्तु एक-एक आवृत्ति में उसका ग्रहण नहीं होता।

83. प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥

अनु.:- उसी प्रकार ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त शब्द में (शब्द के) ग्रहण के अनुकूल, अनाख्येय प्रत्ययों (बुद्धियों) के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है।

व्या.:- ये दोनों कारिकाएँ 'यथा' और 'तथा' शब्दों के माध्यम से परस्पर संबद्ध हैं। प्रश्न उठता है कि यद्यपि वैयाकरण के मत में स्फोट निरवयव तथा अक्रम है तथापि उसकी अभिव्यक्ति तो क्रमिक ध्वनियों से ही होती है। क्रमिक ध्वनियों का समुदाय तो बन नहीं सकता क्योंकि प्रत्येक ध्वनि उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है। अब यदि अलग-अलग ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त करती हैं तो वह स्फोट को आंशिक रूप में अभिव्यक्त करती है या संपूर्ण रूप में? यदि प्रत्येक ध्वनि स्फोट को अंशतः अभिव्यक्त करती हैं तो स्फोट की निरवयवता खण्डित हो जाती है। और यदि प्रत्येक बार स्फोट का एक अंश ही प्रकाशित होगा तो समग्र शब्द तो कभी प्रकाशित नहीं हो सकेगा। उदाहरण के लिए, 'गौः' शब्द में जब 'ग' अंश अभिव्यक्त होगा तब 'औ' और 'विसर्ग' अव्यक्त रहेंगे। जब 'औ' अंश व्यक्त होगा तब 'ग्' अंश अव्यक्त हो चुकेगा और 'विसर्ग' की अभिव्यक्ति होने पर 'ग्' और 'औ' अव्यक्त हो चुकेंगे। इस प्रकार यह निरंश शब्द या तो संपूर्ण रूप में व्यक्त होगा या बिल्कुल ही न होगा। अब, यदि प्रत्येक ध्वनि स्फोट को संपूर्ण रूप में व्यक्त करती है तो अन्य ध्वनियाँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं। यदि स्फोट प्रथम ध्वनि द्वारा ही व्यक्त हो जाता है तो परवर्ती ध्वनियों की आवश्यकता ही क्या है? यदि अन्तिम ध्वनि द्वारा स्फोट व्यक्त होता है तो पूर्ववर्ती ध्वनियाँ व्यर्थ हैं। इसके उत्तर में वैयाकरण कहता है कि ध्वनियाँ बारम्बार उसी स्फोट को अभिव्यक्त करती हुई बुद्धि में स्थापित करती हैं *(प्रयत्नविशेषसाध्या ध्वनयो वर्णपदवाक्याख्यान् स्फोटान् पुनः पुनराविर्भावयन्तो बुद्धिष्वध्यारोपयन्ति* –वृत्ति, पृ. 148)। इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि संपूर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करती है *(एकैको ध्वनिः कृत्स्नं स्फोटम् अभिव्यनक्ति* –पद्धति, पृ. 148)। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए *भर्तृहरि* एक दृष्टान्त देते हैं। वेद का कोई अनुवाक अथवा श्लोक अनेक आवृत्तियों के पश्चात् बुद्धि में भली भाँति अवधारित हो जाता है। एक-एक आवृत्ति में उसका स्वरूप उतना स्पष्ट नहीं होता। उत्तरोत्तर आवृत्तियाँ उसी अनुवाक अथवा श्लोक को क्रमशः स्पष्टतर रूप में बुद्धि में स्थापित करती हैं। अन्तिम आवृत्ति में वह पूर्णतया गृहीत हो जाता है, किन्तु इससे पूर्ववर्ती आवृत्तियाँ व्यर्थ नहीं होतीं। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि उसी स्फोट को क्रमशः स्पष्टतर रूप में अभिव्यक्त करती है। ध्वनि द्वारा जब शब्द को प्रकाशित किया जाता है तो कुछ ऐसे संप्रत्यय बीच में उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः स्पष्टतर होते हुए स्फोट के ग्रहण में सहायक हैं। इनके बिना अन्तिम ध्वनि स्फोट को उसकी सम्पूर्ण स्पष्टता में अभिव्यक्त नहीं कर सकती। स्फोट के ग्रहण में उपायभूत होने के कारण *भर्तृहरि* इन्हें 'ग्रहणानुगुण' कहते हैं। किन्तु इन प्रत्ययों को स्पष्टतया परिभाषित करना संभव नहीं क्योंकि इनकी उत्पत्ति के समय स्फोट का स्वरूप अभी अस्पष्ट ही है। किस प्रत्यय में स्फोट का स्वरूप कितना स्पष्ट हुआ है, यह स्पष्ट रूप से बतलाना संभव नहीं। इसलिए इन्हें 'अनुपाख्येय' भी कहा गया है। ये प्रत्यय स्फोट के ग्रहण में उपायभूत हैं। मण्डन मिश्र (*स्फोटसिद्धि*, कारिका 18 के अन्तर्गत) एक और दृष्टान्त इसी संबन्ध में देते हैं। जौहरी जब किसी रत्न की परीक्षा करता है तो पहली दृष्टि में उसे उस रत्न की ठीक पहचान नहीं होती। किन्तु लगातार कुछ देर देखने पर वह क्रम से रत्न की शुद्धता का ठीक-ठीक जाँच लेता है। इस लगातार देखने में अनेक प्रत्ययों की शृंखला उसके मानस को संस्कारित करती है। उन प्रत्ययों की व्याख्या संभव नहीं किन्तु वे उसकी बुद्धि को इस प्रकार तैयार करते हैं कि अन्तिम क्षण में बुद्धि रत्न की वास्तविकता को पूरी तरह पहचान लेती है। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि उसी स्फोट को क्रमशः व्यक्त करती है। प्रथम ध्वनि स्फोट को धुँधले से रूप में व्यक्त करती है, दूसरी ध्वनि से वह कुछ और स्पष्ट होता है और इस प्रकार अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ ही स्फोट का स्वरूप पूर्णतः स्पष्टतया गृहीत हो जाता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक ध्वनि का विषय वही शब्द है और प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के लिए किया गया प्रयत्न समग्र-शब्द-विषयक है। इसीलिए वृषभदेव कहते हैं कि 'गो' शब्द को व्यक्त करने के लिए उच्चारित गकार-ध्वनि 'गवय' शब्द को व्यक्त करने के लिए उच्चारित गकार से भिन्न है : *गोशब्दमुच्चारयिष्यामीति गोशब्दविषयेण प्रयत्नेन जायमानो गकारध्वनिर्भिद्यते गवयशब्दप्रयोजकाद् गकारध्वनेः। कारणभेदो हि भेदको पदार्थानाम्* (पद्धति, पृ. 168)।

84. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

अनु.:- ध्वनियों द्वारा जिसमें (संस्काररूप में) बीज का आधान किया गया है ऐसी बुद्धि में परिपाक को प्राप्त कर लेने पर अन्तिम ध्वनि के साथ शब्द का अवधारण हो जाता है।

व्या.:- शब्दस्वरूप के ग्रहण का क्रम इस कारिका में बतलाया गया है। पूर्व पूर्व ध्वनियाँ शब्द के ग्रहण के लिए बुद्धि में बीजों का आधान करती हैं। प्रथम ध्वनि से होने वाली अभिव्यक्ति स्फोट (शब्द) को एक धुँधले से आकार (आभास मात्र) के रूप में प्रस्तुत करती है। प्रत्येक परवर्ती ध्वनि इसे और स्पष्ट करती है। पूर्ववर्ती ध्वनियाँ बुद्धि में बीजरूप में संस्कार छोड़ती हैं और प्रत्येक परवर्ती ध्वनि द्वारा छोड़े हुए संस्कार इस बीज को पुष्ट करते चलते हैं। इसलिए प्रत्येक परवर्ती अभिव्यक्ति पहली की अपेक्षा स्पष्टतर होती है। अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। पूर्व ध्वनियों के अनुभव, उनसे उत्पन्न संस्कार और अन्तिम ध्वनि, इन सभी का विषय निरवयव स्फोट ही है। यही कारण है कि एक-एक ध्वनि के साथ स्फोट की अभिव्यक्ति स्पष्ट होती जाती है। बुद्धि जो पूर्ववर्ती ध्वनियों से उत्पन्न संस्कारों द्वारा परिपक्व होकर अपेक्षित क्षमता अर्जित कर चुकी है, अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ ही शब्द को उसकी समग्रता में ग्रहण कर लेती है। स्फोट को ग्रहण करने में बुद्धि की क्षमता को परिपाक की प्राप्ति कहा गया है। परिपाक का अर्थ है संस्कारों का अपने कार्य को उत्पन्न करने की ओर उन्मुख होना (*वासनायाश्च स्वकार्योत्पादं प्रत्याभिमुख्यं परिपाकः –न्यायकोश*)। संस्कारों की यह उन्मुखता बुद्धि में घटित होती है। प्रत्येक ध्वनि द्वारा आहित संस्कार से बुद्धि शब्द को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त करती है इसलिए इसे आवृत्तपरिपाका (*आवृत्तो अभ्यस्तः परिपाको यस्याः सा*) कहा गया है। यद्यपि शब्दस्वरूप की अभिव्यक्ति अन्तिम ध्वनि के पश्चात् ही स्पष्ट रूप में होती है फिर भी पूर्ववर्ती ध्वनियाँ व्यर्थ नहीं हैं क्योंकि उनके संस्कार शब्द की स्पष्ट प्रतिपत्ति में सहायक हैं।

'ध्वनियों द्वारा स्फोट की अभिव्यक्ति होती है', इस धारणा के विरुद्ध वर्णवादी मीमांसकों ने आक्षेप प्रस्तुत किये हैं। इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए *स्फोटसिद्धि* में मण्डन मिश्र ने प्रस्तुत कारिका इससे पूर्व की दो कारिकाओं के साथ अपने समर्थन में उद्धृत की है। अभिनवगुप्त की *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी*, कमलशील की *तत्वसंग्रहपञ्जिका*, प्रभाचन्द्र की *प्रमेयकमलमार्तण्ड* और सायण-माधव के *सर्वदर्शनसंग्रह* में भी यह कारिका उद्धृत है। ध्वनियों से स्फोट की क्रमशः स्पष्ट एवं स्पष्टतर होती हुई अभिव्यक्ति को शेषकृष्ण ने अपने *स्फोटतत्वनिरूपण* में इस प्रकार बतलाया है: जब वक्ता 'कमल' शब्द को व्यक्त करने के लिए 'क' का उच्चारण करता है तो 'क' के उच्चारण द्वारा वह 'कमल' को ही अस्पष्ट रूप में कहता है क्योंकि जो शब्द 'क' से प्रारम्भ नहीं होते वे प्रथम ध्वनि के उच्चारण के साथ ही निवृत्त हो जाते हैं। फिर जब वह 'म' का उच्चारण करता है तो शब्द का क्षेत्र और संकुचित हो जाता है किन्तु अभी भी यह स्पष्ट नहीं है कि वक्ता का अभिप्रेत शब्द कमल है अथवा 'कमठ' या 'कमन'। किन्तु अन्तिम ध्वनि 'ल' के उच्चारण के साथ ही 'कमल' शब्द बुद्धि में स्पष्टतया अवधारित हो जाता है। इस प्रकार सभी ध्वनियों से एक ही स्फोट की क्रमशः स्पष्टतर रूप में अभिव्यक्ति होती है।

85. असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः॥

अनु.:- अन्तराल (ध्वनि के उच्चारण और समग्र शब्द के ग्रहण के बीच) में श्रोता जिन असत् शब्दों का अस्तित्व मानता है, वह श्रोता की अक्षमता है; वह (असत् शब्दों की कल्पना) तो (स्फोट के) ग्रहण का उपाय मात्र है।

व्या.:- यदि प्रत्येक ध्वनि अखण्ड स्फोट का ग्रहण कराती है तो हमें शब्द के ग्रहण से पूर्व अवयवों के रूप में, वाक्यों में पदों की, पदों में वर्णों की और वर्णों में वर्णभागों की प्रतीति क्यों होती है? जैसा भर्तृहरि अगली कारिका में स्पष्ट कहेंगे, इन भागों की प्रतीति एक अपरिहार्य भ्रान्ति है। वस्तुतः इनकी कोई सत्ता नहीं है। मानवीय बुद्धि की संरचना इस प्रकार की है कि वह क्रम से ही अपने विषय को ग्रहण करती है। नीली कमीज वस्तुतः एक ही पदार्थ है किन्तु हम दो शब्दों के माध्यम से गुण और द्रव्य के रूप में बाँटकर उसका ज्ञान करते हैं। शब्द एक और अखण्ड है किन्तु इसका ग्रहण ध्वनियों के माध्यम से होता है जो अनेकता से युक्त हैं। इसलिए निरवयव शब्द के ग्रहण से पूर्व हमें वहाँ ध्वनियों की, और फलस्वरूप नाना प्रकार के भागों (पद, वर्ण, वर्णभाग), की प्रतीति होती है। वस्तुतः, गौ में जो ग-ध्वनि है वह मात्र ग-वर्ण को व्यक्त करने वाली ग-ध्वनि से सर्वथा भिन्न है क्योंकि उनके उच्चारण में, एक का अभिप्राय 'गौः' पद की अभिव्यक्ति है और दूसरे का मात्र ग-वर्ण की अभिव्यक्ति। अभिप्राय की भिन्नता की दृष्टि से दोनों के प्रयत्न भी भिन्न हैं। किन्तु उच्चारण-स्थान की समानता के कारण दोनों गकारों को एक समझने की भूल होती है। 'गौः' पद को व्यक्त करने के लिए उच्चरित गकार में सादृश्य के कारण अभिन्नता मान ली जाती है और ग-वर्ण को 'गौ' का अवयव मान लिया जाता है। इसी प्रकार 'गाय' शब्द को 'गाय लाओ' इस वाक्य का अवयव समझ लिया जाता है। किन्तु वाक्य में पदों की अथवा पदों में वर्णों की प्रतीति उतनी ही असत्य है जितनी वर्णों में वर्णभागों की। 'ए, ओ, ऐ, औ' जैसे वर्ण सन्ध्यक्षर कहलाते हैं किन्तु यह मानना ठीक न होगा कि उनमें दो-दो स्वरों की उपस्थिति है। 'ए' वर्ण 'अ' और 'इ' का मिश्रण नहीं, अपितु स्वतन्त्र अविभाज्य वर्ण है। मानवीय बुद्धि की सीमाओं के कारण जिस अनेकता की प्रतीति होती है उसके कारण शब्द को अनेकत्वयुक्त मान लेना सही नहीं है। हमारी बुद्धि द्वारा 'गौः' जैसे किसी शब्द में एकत्व की प्रतीति और उससे अर्थ का बोध एक निर्विवाद तथ्य है जिससे स्पष्ट है कि अनेकता केवल ऊपरी है और एक समग्र शब्द, अर्थात् स्फोट, के ग्रहण में उपायभूत है। किन्तु उपायों को अन्तिम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता –

उपायान्प्रतिपत्तॄणां नाभिमन्येत सत्यतः। –वा.प. 3. वृत्तिसमुद्देश 76.

शब्द के ग्रहण में ध्वनियाँ साधनभूत हैं किन्तु साधन के धर्मों को साध्य के एकत्व पर आरोपित कर उसे सत्य मान लेना एक भ्रान्ति है।

86. भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।
क्रमोपसृष्टरूपा वाक् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्॥

अनु.:- भेदों की प्रतीति ज्ञान और शब्द की अपरिहार्य विकृति है। शब्द का रूप क्रम से अनुरंजित है और ज्ञान ज्ञेय पर आश्रित है।

व्या.:- सदृश ध्वनियाँ वाक्य में पदों की और पदों में वर्णों की प्रतीति कराती है। भर्तृहरि के अनुसार यह एक ऐसी भ्रान्ति है जो नियमित रूप से सभी को होती है। वे यहाँ ज्ञान का उदाहरण देते हैं। ज्ञान शुद्ध और निराकार है और एक है। किन्तु विषय के स्वरूप से युक्त होकर ही हमें उसका ग्रहण होता है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि सभी हैं तो ज्ञान ही, किन्तु ज्ञेय से युक्त हुए बिना उस ज्ञान का बोध हमें नहीं होता; इसीलिए ज्ञान एक होते हुए भी उसमें ज्ञेयगत भेद भासित होते हैं जैसे पाँच वृक्ष, इक्कीस ब्राह्मण आदि। तृतीय काण्ड के संबन्ध समुद्देश में भर्तृहरि कहते हैं कि बाह्य आकारों को ग्रहण करना ज्ञान की विकृति है –

उपप्लवो हि ज्ञानस्य बाह्याकारानुपातिता। (*वा.प.*, 3.3.57)

किन्तु व्यवहार के योग्य यही ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द भी क्रम में ही *गृहीत* होता है। क्रम में अभिव्यक्त हुए बिना वह व्यवहार का विषय नहीं बनता। पिछली कारिका (*वा.प.*, I. 85) की वृत्ति में बतलाया गया है कि ऋषिजन अक्रम रूप में केवल पदों व वाक्यों का ही नहीं अपितु संपूर्ण ऋग्वेद आदि का भी ग्रहण करते हैं। किन्तु यह स्थिति सामान्य व्यवहार में संभव नहीं। सामान्य जन समग्र शब्द को अक्रम रूप में ग्रहण करने की क्षमता से संपन्न नहीं। वे ध्वनियों की अनेकता के माध्यम से ही शब्द को ग्रहण कर पाते हैं। किन्तु यह माध्यम ही कुछ लोगों के लिए सत्य हो जाता है और वर्णों की अनेकता उन्हें वास्तविक प्रतीत होने लगती है। *वृत्ति* में कहा गया है कि ज्ञेय के बिना ज्ञान व्यवहार में नहीं आता और क्रम को ग्रहण किये बिना वाक् से अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता –

न ज्ञेयेन विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥

वाक् में क्रम की यह प्रतीति ही वाक् का उपप्लव (विकृति) है। शब्द का अनुभूत एकत्व और वर्णों की उपायभूत अनेकता, दोनों तो सत्य हो नहीं सकते। अतः मानना होगा कि अनेकता केवल सतही है और एकत्व ही सत्य है। जैसा पहले कह चुके हैं और आगे भी कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे, ध्वनियों का अनेकत्व स्फोट के ग्रहण में उपायभूत है।

87. यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥

अनु.:- जिस प्रकार पूर्ववर्ती संख्याओं का ग्रहण अन्य (बड़ी) संख्याओं से भिन्न होते हुए भी उनके समझने में उपाय बनता है उसी प्रकार वाक्य में शब्दान्तर (वर्णों व पदों) की प्रतीति भी उपायभूत ही है।

व्या.:- *भर्तृहरि* अखण्ड स्फोट की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ वे संख्या का उदाहरण देते हैं। संख्या अपने आश्रय का निर्धारण करती है। बड़ी संख्या में छोटी संख्या नहीं होती। यदि हो तो वह संख्या अपने आश्रय को सही रूप में मापने में असमर्थ होगी। इसलिए सभी संख्याएँ अपने आप में विशिष्ट हैं और एक-दूसरी से भिन्न हैं। फिर भी छोटी संख्याएँ बड़ी संख्याओं, जैसे सौ या हजार, के ग्रहण में उपायभूत हैं। जब हम दस की संख्या से विशिष्ट वस्तुओं या व्यक्तियों को समझने का प्रयास करते हैं तो एक, दो, तीन, चार आदि गिनते हुए दस तक पहुँचते हैं। ये सभी छोटी संख्याएँ दस की संख्या से भिन्न हैं। दस दस ही है, एक, दो या तीन नहीं। फिर भी ये संख्याएँ दस के ग्रहण में उपायभूत हैं। इसी प्रकार वाक्य में भी भिन्न-भिन्न पद अथवा वर्ण वाक्य नहीं हैं, फिर भी वे वाक्यस्वरूप के ग्रहण में सहायक हैं।

88. प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि संकीर्णा इव शक्तयः॥

अनु.:- वर्णों, पदों और वाक्यों में प्रत्येक की व्यञ्जक ध्वनियाँ यद्यपि परस्पर विलक्षण हैं फिर भी उनकी शक्तियाँ मिश्रित सी प्रतीत होती है।

व्या.:- ध्वनियाँ कभी वर्ण को, कभी पद को, तो कभी वाक्य को अभिव्यक्त करती हैं और इसलिए वर्ण, पद और वाक्य ध्वनियों से अभिन्न प्रतीत होते हैं। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण के लिए अलग-अलग प्रयत्न करना पड़ता है। उन प्रयत्नों द्वारा प्रेरित वायु और उसके द्वारा उच्चारण-स्थानों का आघात भी प्रत्येक अवसर पर भिन्न है। इस प्रकार के भेद के कारण इनसे उत्पन्न ध्वनियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। उनके द्वारा अभिव्यंग्य कार्य (वर्ण, पद और वाक्य) भी भिन्न हैं और इस दृष्टि से भी ये ध्वनियाँ भिन्न हैं। फिर भी इन भिन्न-भिन्न ध्वनियों में सादृश्य के कारण अभिन्नता मान ली जाती है। इसका उदाहरण पहले कारिका 85 की व्याख्या में भी दिया जा चुका है। सादृश्य के कारण गौ की अभिव्यञ्जक '*ग*'-ध्वनि को '*ग*'-वर्ण की व्यञ्जक '*ग*'-ध्वनि मानकर 'गौः' पद में ग-वर्ण जैसे विभाग को सत्य मान लिया जाता है और '*गौ*' में '*ग*' और '*गाम् आनय*' में '*गाम्*' जैसे अवयवों को मान्यता दे दी जाती है। यह वैसा ही है जैसे गौ और गवय में सादृश्य के कारण उन्हें एक मान लिया जाए। यह शक्तियों के सांकर्य का ही परिणाम है कि पद की व्यञ्जक शक्ति को वर्ण की

व्यञ्जक भी मान लिया जाता है और इस प्रकार वर्ण में मात्रा जैसे विभागों की, पद में वर्णरूप विभागों की और वाक्य में पदरूप विभागों की प्रतीति होती है। किन्तु यह सांकर्य वास्तविक नहीं है आभासित ही है, ऐसा 'संकीर्णा इव' कहकर सूचित किया गया है।

89. यथैव दर्शनैः पूर्वैर्दूरात्सन्तमसेऽपि वा।
अन्यथाकृत्य विषयमन्यथैवाध्यवस्यति॥

90. व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥

अनु.:- 89. जिस प्रकार दूर से देखने पर अथवा अन्धकार में (द्रष्टा) प्रथम दृष्टियों में विषय को अन्य रूप में ग्रहण करके पुनः दूसरे (वास्तविक) रूप में ग्रहण करता है।

90. उसी प्रकार वाक्य की अभिव्यक्ति के हेतुओं (ध्वनियों) द्वारा वाक्य की अभिव्यक्ति के समय सर्वप्रथम भागों के ग्रहण के रूप में बुद्धि प्रवृत्त होती है।

व्या.:- स्फोट की अभिव्यक्ति से पूर्व वर्णों की ही अभिव्यक्ति होती है। बुद्धि में उन्हीं का ग्रहण सर्वप्रथम होता है। फिर एकात्मक शब्द अथवा स्फोट को मानने का आधार क्या है? इसके उत्तर में यहाँ बतलाया गया है कि स्फोट के ग्रहण से पूर्व वर्णों की प्रतीति वस्तुतः एक भ्रान्ति है। ध्वनियों द्वारा होने वाले ज्ञान का विषय तो एकात्मक शब्द है और प्रतीति ध्वनियों की होती है। ज्ञान में जब इन्द्रिय का विषय अन्य हो और ज्ञान का आकार उससे भिन्न हो तो यह भ्रान्ति का उदाहरण है। रज्जु व सर्प के प्रसिद्ध उदाहरण में इन्द्रिय का संपर्क तो रज्जु से होता है किन्तु ज्ञान में आभासित होता है सर्प। अतः इसे भ्रान्ति कहा जाता है। अखण्ड एवं निरवयव स्फोट की सावयव रूप में प्रतीति भी ऐसी ही भ्रान्ति है। किन्तु यह भ्रान्ति परवर्ती यथार्थ ज्ञान में कारण बनती है। भर्तृहरि इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं। दूर से देखने पर अनेकों बार प्रथम दृष्टि में वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं पहचानी जाती अपितु किसी अन्य वस्तु के रूप में भासित होती है। दूर से किसी वृक्षसमूह में हाथी का आभास होता है। यहाँ इन्द्रिय का संनिकर्ष तो वृक्ष के साथ है किन्तु ज्ञान में आकार हाथी का है। इसी प्रकार जब हम उज्ज्वल प्रकाश वाले स्थान से मन्द प्रकाश वाले कमरे में प्रविष्ट होते हैं तो वहाँ पड़ी हुई रस्सी सर्प जैसी प्रतीत होती है। किन्तु निरन्तर ध्यानपूर्वक देखने पर, वस्तु पर आरोपित आकार तिरोहित होकर उसका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस ज्ञान में प्रत्येक परवर्ती दर्शन विषय का स्पष्टतर ग्रहण कराता है। क्रमशः स्पष्ट होने वाले इस ज्ञान में पूर्ववर्ती ज्ञान का भी योगदान मानना होगा। अन्यथा वस्तु का स्वरूप प्रथम दर्शन में ही स्पष्ट हो जाता। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान में मिथ्या ज्ञान उपायभूत है। इसी प्रकार जब ध्वनियों द्वारा पद अथवा वाक्य को अभिव्यक्त किया जाता है तो श्रोता की बुद्धि पहले ध्वनियों को क्रम से ग्रहण करती है और उन्हीं के आकार से आकारित होकर अनेकत्वयुक्त दिखलाई देती है। संपूर्ण अभिव्यक्ति के बाद स्फोट एक इकाई के रूप में गृहीत हो जाता है। गकार आदि द्वारा संस्कारित बुद्धि स्पष्ट रूप से 'गौः', इस प्रकार के निरवयव शब्द को ग्रहण कर लेती है। आरम्भ में ध्वनियों के क्रम से स्फोट का यह ग्रहण एक स्वाभाविक भ्रान्ति है जो बाद में एक इकाई के रूप में इसके ग्रहण से बाधित हो जाती है। इस प्रकार अवयवों की मिथ्या प्रतीति अखण्ड स्फोट के ग्रहण में उपायभूत है। अतः यह आपत्ति भी उचित नहीं कि जो ध्वनियाँ शब्द के प्रकाशन की हेतु हैं वे भ्रान्ति की निमित्त कैसे हो सकती हैं। इसीलिए मण्डन मिश्र (स्फोटसिद्धि, कारिका 19) ने कहा है –

आरूपालोचितेष्वस्ति ह्यन्यथात्वप्रकाशनम्।
तत्संस्कारक्रमाच्चापि व्यक्तं तत्त्वं प्रकाशते॥

''अव्यक्त रूप में दिखलाई देने वाले पदार्थ अन्यथा भी भासित होते हैं। उन अन्यथा ज्ञानों के संस्कारों के क्रम से यथार्थ तत्त्व स्पष्टतः प्रकाशित होता है।''

91. यथानुपूर्वी नियमो विकारे क्षीरबीजयोः।
तथैव प्रतिपत्तॄणां नियतो बुद्धिषु क्रमः॥

अनु.:- जिस प्रकार दूध और बीज के विकारों (परिणामों) की उत्पत्ति में एक निश्चित क्रम है उसी प्रकार शब्द के ग्रहीताओं की बुद्धि में भी क्रम निश्चित है।

व्या.:- शब्द में वर्णों की प्रतीति सार्वजनीन है और उसी क्रम से तथा उसी रूप में होती है। 'वृक्ष' शब्द में सभी को पहले 'व्' की, फिर 'ऋ' की, फिर 'क्' और फिर 'ष' की प्रतीति होती है। ऐसी स्थिति में वर्णज्ञान को मिथ्याज्ञान कहना कहाँ तक उचित है? मिथ्या ज्ञान के उदाहरणों में हम देखते हैं कि यह सर्वत्र एक जैसा नहीं होता, न उसमें निश्चित क्रम होता है। आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो। किसी दूसरे व्यक्ति को रज्जु जलधारा जैसी भी दिखाई देती है। किसी व्यक्ति को पहले सर्प की, फिर जलधारा की भ्रान्ति हो सकती है तो दूसरे को पहले जलधारा की, फिर सर्प की। इसलिए भर्तृहरि कुछ ऐसे दृष्टान्त देते हैं जहाँ नियत कारण से नियत कार्य की उत्पत्ति नियत क्रम में देखी जाती है। जब दूध दही में अथवा बीज वृक्ष में परिणत होता है तो इस अन्तराल में अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ घटित होती हैं। इन प्रक्रियाओं में कुछ को हम नाम दे देते हैं किन्तु कुछ अन्य सूक्ष्म दशाओं के नाम हमारे लिए अज्ञात रह जाते हैं। बीज से अंकुर, फिर तना, फिर पत्ते आदि प्रकट होते हैं और इस प्रकार क्रम से प्रधान परिणाम – वृक्ष – को

उत्पत्ति होती है। ये सभी प्रक्रियाएँ निश्चित क्रम में और सार्वत्रिक रूप में घटित होती हैं। धान का बीज धान के पौधे को ही उत्पन्न करता है और गेहूँ का बीज गेहूँ के पौधे को। इसी प्रकार शब्द के ज्ञान में भी एक नियम दिखलाई देता है। क्योंकि शब्द की अभिव्यक्ति का कारण वे ही ध्वनियाँ हैं और वे उसी क्रम में शब्द को अभिव्यक्त करती हैं और उनके बिना शब्द की अभिव्यक्ति संभव नहीं, इसलिए इस भ्रान्ति में सार्वत्रिकता, नियत क्रम और नियत रूप दिखलाई देता है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष बनने की प्रक्रिया में अन्तरालवर्ती अवस्थाओं को अन्तिम नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार पदों में वर्णों की और वाक्य में पदों की प्रतीति अन्तिम नहीं है। वह प्रतीति वाक्य के ज्ञान का उपाय मात्र है और वाक्य के ज्ञान के अनन्तर वाक्यार्थ का ग्रहण होता है। किन्तु दिव्य दृष्टि से संपन्न ऋषिगण इस क्रम से मुक्त हैं और व्यञ्जक ध्वनियों की सहायता के बिना भी अखण्ड और अक्रम स्फोट को ग्रहण करते हैं।

92. भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात्।
निर्भागेष्वभ्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम्॥

अनु.:- शब्दों को भागों से युक्त मानने पर भी उन भागों का भेद ध्वनि के क्रम से ही मानना होगा। यदि उन्हें अखण्ड मानें तो भागों की कल्पना स्फोट की उपलब्धि में उपाय है।

व्या.:- मीमांसकों के मत में वर्णों का समूह ही पद है और पदों का समूह वाक्य है। ऐसे संकेत मिलते हैं कि वैयाकरणों में भी कुछ लोग संभवत: स्फोट को भागयुक्त मानते रहे हैं। इन लोगों के मत में वर्णों से भिन्न कोई निरवयव शब्दात्मा विद्यमान नहीं है और वर्ण नित्य हैं। इस मत के अनुसार 'गौ:' पद में 'ग्', 'औ', और विसर्ग ही वाचक हैं उनसे भिन्न पद की कोई सत्ता नहीं। अब, यदि वर्ण अपने क्रम से अभिव्यक्त होते हैं तो वर्णसमुदायरूप पद का ग्रहण ही नहीं होगा क्योंकि वर्णों की अभिव्यक्ति तो क्षणिक है। साथ ही, वर्ण के अन्तिम अंश की अभिव्यक्ति के समय उसका कोई विषय ही नहीं होगा। यदि यह मानें कि उन सभी भागों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है तो 'गवे-वेग, 'न ते-तेन', 'नदी-दीन', 'राधा-धारा' जैसे शब्दों में तो वे ही वर्ण विद्यमान हैं, उनमें भेद कैसे संभव होगा? दूसरा मत यह है कि 'गौ:' एक पद है और उसमें 'ग्', 'औ' एवं विसर्ग जैसे भाग हैं और वे भाग नित्य हैं। उन अवयवों में भेद ध्वनियों के क्रम में भेद के कारण है। इस प्रकार यह मानना होगा कि अभिव्यञ्जक ध्वनियों का क्रम ही भागवादियों के मत में भी भेद का कारण है। अब, यदि शब्द को भागरहित मानकर अखण्ड पदस्फोट या अखण्ड वाक्यस्फोट मानें तो भी ध्वनियों के क्रम के कारण भागों की स्वीकृति देनी होती है। किन्तु यह स्वीकृति केवल एक कल्पना है और अखण्ड स्फोट एवं वाक्यार्थ के ग्रहण में उपायभूत है। वाक्य का पदों में विभाजन अर्थ को समझने की सुविधा के लिए है और पदों का वर्णों में विभाजन पद के स्वरूप को ग्रहण करने का एक सुविधाजनक उपाय है। इस विषय में अधिक चर्चा पिछली अनेक कारिकाओं में दृष्टान्त आदि के माध्यम से की जा चुकी है।

93. अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता:॥

अनु.:- कुछ लोगों के अनुसार अनेक व्यक्तियों द्वारा अभिव्यक्त होने वाली जाति स्फोट है। इस जाति को अभिव्यक्त करने वाली व्यक्तियों को ध्वनियों का नाम दिया गया है।

व्या. :- भिन्न-भिन्न मनुष्य जब किसी पद (जैसे, गाय) या वाक्य (जैसे, गाय लाओ) का उच्चारण करते हैं तो उनके द्वारा वह पद या वाक्य ध्वनियों के क्रम से उच्चरित होता है किन्तु इन सभी विविध उच्चारणों में भी इस पद या वाक्य की पहचान बनी रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न उच्चारणों में भी पदजाति या वाक्यजाति एक ही है। इसलिये ध्वनियों को व्यक्ति कहा है और इस एकात्मक शब्द को जाति कहा गया है। जिस प्रकार विभिन्न पदार्थों में हम एक जाति स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शब्द में भी एक जाति है। विभिन्न गो-व्यक्तियों में एक सामान्य तत्त्व अर्थात् गोत्व जाति है जिसके आधार पर हम उन सबको गौ के रूप में पहचानते हैं। इसी प्रकार इस गो-पदार्थ के वाचक अनेक गो-शब्दों में भी गोशब्दत्व नाम की जाति है जो क्रमिक ध्वनियों के माध्यम से व्यक्त होती है। इसलिये किसी पद या वाक्य को सुनकर श्रोताओं की प्रतिक्रिया एक ही प्रकार की होती है। भिन्न-भिन्न वक्ताओं द्वारा उच्चरित होने पर भी पद अथवा वाक्य का अर्थ श्रोता के लिए भिन्न नहीं है। इसलिए एक घट-शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर सभी घट-शब्दों के अर्थों का ज्ञान हो जाता है। जातिस्फोट-वादियों के अनुसार भिन्न-भिन्न वक्ताओं द्वारा उच्चारित शब्दों (पदों या वाक्यों) में विद्यमान यह जाति ही स्फोट है। और इसे क्रमिक रूप में व्यक्त करने वाली ध्वनियाँ इसकी व्यक्तियाँ हैं। वृषभदेव का कहना है कि जाति व्यक्तियों द्वारा व्यञ्जित होती है, इसलिए व्यंग्य स्फोट को जाति और उसकी व्यञ्जक ध्वनियों को व्यक्ति कहा गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत उदाहरणों में व्यक्त होने वाली जाति स्फोट है। जाति नित्य है जबकि इसकी व्यञ्जक व्यक्तियाँ अनित्य हैं। इसी प्रकार स्फोट नित्य है जबकि इसकी व्यञ्जक ध्वनियाँ अनित्य हैं। *वृत्ति* में यह स्पष्ट किया गया है कि यह जाति शब्दत्व जाति से भिन्न है। शब्दत्व जाति सर्वशब्द-साधारण है और उसको वाचक मानने पर तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध मानना होगा जिससे सांकर्य की स्थिति उत्पन्न होगी। कुंजुन्नी राजा (1969: पृ. 115) इस सम्बन्ध में बर्ट्रेंड रसेल को उद्धृत करते हैं – "The word 'dog' is universal just as *dog* is universal" (जिस प्रकार *कुत्ता* एक जाति है उसी प्रकार 'कुत्ता' शब्द भी एक जाति है)। पी. टी. राजू कहते हैं– "इस दर्शन के अनुसार गाय, मकान, मनुष्य जैसे प्रत्येक शब्द में एक प्रकार की जाति है जिसे स्फोट कहते हैं। यद्यपि ये शब्द अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग समय में अलग-अलग स्वर-शैली में बोले जाते हैं फिर भी हम उन्हें 'यह वही है',

इस रूप में पहचानते हैं और यद्यपि उनके अक्षरों का उच्चारण क्रमिक रूप में होता है फिर भी उनका ग्रहण एक इकाई के रूप में होता है। इन दोनों तथ्यों की व्याख्या स्फोट नामक शब्दजाति की परिकल्पना के माध्यम से की जा सकती है'' (देखें – *कुंजुन्नीराजा* : 1969: पृ. 116)। कुंजुन्नी राजा के मत में यह भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित अनेक मतों में से एक है और इसे भर्तृहरि का सिद्धान्त-पक्ष नहीं कहा जा सकता (वही, पृ. 116)। किन्तु पुण्यराज वा.प., 2.29-30 की टीका में जाति और व्यक्ति के रूप में स्फोट की इन दो अवधारणाओं को भर्तृहरि के मत के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिससे स्पष्ट है कि पुण्यराज की दृष्टि में ये दोनों पक्ष स्फोट की भर्तृहरि को संमत दो वैकल्पिक परिभाषाएँ हैं – एक एव नित्यः पदाभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वाचकोऽङ्गीकार्य इति (पुण्यराज, वा.प. 2, पृ. 16)। पुण्यराज की दृष्टि में जाति और व्यक्ति के रूप में स्फोट की ये अवधारणाएँ स्फोट की बाह्यता की दृष्टि से है। बाहर अभिव्यक्त होने से पूर्व स्फोट वक्ता की बुद्धि में स्थित है। इस अवस्था में यह आभ्यन्तर स्फोट है। जब यह बाहर प्रकट होकर श्रोता द्वारा गृहीत होता है तब बाह्यस्फोट बनता है। दोनों ही स्थितियों में यह एक अखण्ड इकाई है। इन विभाजनों की चर्चा पुण्यराज ने वा. प., 2.1-2 की टीका में भी की है – *'स्फोटश्च द्विविधः बाह्य आभ्यन्तरश्च। बाह्योऽपि जातिव्यक्तिभेदेन द्विविधः।'* स्वयं भर्तृहरि *महाभाष्यदीपिका* में आकृतिपरक (अर्थात् जातिपरक) स्फोट का उल्लेख एक विकल्प के तौर पर स्वीकृति की मुद्रा में करते हैं- ''*अथवा स्फोटमात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति। तत्राकृतिनिर्देशं नान्तरेण ध्वनिमाकृतिः प्रतिपद्यत इति नान्तरीयकं द्रव्यं प्रतिपत्तव्यमिति*''(म. भा.दी., पृ.76)। कौण्डभट्ट और नागेश ने भी इन दोनों मतों का उल्लेख किया है।

पाठ - 8

कारिका 94 - 106

94. अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत्॥

अनु.:- अपने कारणों (प्रयत्न, वायु-अभिघात आदि) के द्वारा विकारयुक्त हुई ध्वनि विकार-रहित शब्द की उपलब्धि में प्रकाश की भाँति निमित्त बनती है।

व्या.:- कुछ दार्शनिकों के अनुसार जाति और व्यक्ति के व्यवहार की प्रक्रिया शब्द और ध्वनि के संदर्भ में ठीक नहीं बैठती। सामान्यतः हम देखते हैं कि गो-जाति की अभिव्यञ्जक व्यक्तियाँ गौएँ हैं, घट-जाति (अर्थात् घटत्व) की व्यक्तियाँ घट हैं; किन्तु यहाँ जाति स्फोट है और व्यक्ति ध्वनियाँ हैं। फिर, यदि स्फोट जाति है और ध्वनियाँ उसकी व्यक्तियाँ हैं तो किसी एक ध्वनि से ही संपूर्ण स्फोट की अभिव्यक्ति हो जानी चाहिए क्योंकि जाति तो प्रत्येक व्यक्ति में समवेत है और उसमें अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए, घटादि पदार्थों में संपूर्ण अवयवी अर्थात् घट एक साथ उपस्थित है इसलिए किसी एक घट में घटत्व पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। किन्तु शब्द तो क्रमजन्मा ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है जो एक साथ नहीं रह सकतीं। फिर उनसे शब्दजाति की उपलब्धि कैसे संभव है? यदि यह संभव होता तो मात्र 'क' ध्वनि से संपूर्ण 'कमल' शब्द की अभिव्यक्ति हो जाती किन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए स्फोट को जाति और ध्वनियों को व्यक्ति मानना उचित नहीं। यह आपत्ति वा.प., I.23 की वृत्ति में उठाई गई है और इसका उत्तर भी वृत्तिकार ने दिया है। ***गमन*** (चलना), **उत्क्षेपण** (ऊपर फेंकना) आदि क्रियाओं में प्रत्येक क्रिया अनेक व्यापारों की शृंखला है। इनमें प्रत्येक क्रिया अपने सभी अंशों में समवेत है। ये सब अंश एक साथ नहीं रह सकते अपितु क्रमशः ही होते हैं। फिर भी उनमें एक जाति स्वीकार की जाती है जो कर्मत्व नामक व्यापक जाति से भिन्न है। इस क्रिया के सभी व्यापार इस जाति के आश्रय हैं। इन व्यापारों में निहित जाति किसी एक अंश से पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं होती। इनमें कुछ व्यापार अनेक क्रियाओं में समान भी होते हैं। अतः एक-दो व्यापारों से हम उस क्रिया को कोई नाम नहीं दे पाते। किन्तु चलने की क्रिया के अनेक व्यापारों की आवृत्ति होने पर जब उत्तरदेश की प्राप्ति और पूर्वदेश से विभाग दिखलाई देता है तब उन सभी व्यापारों का ग्रहण एक जाति के रूप में होता है जिसे हम चलने की क्रिया का नाम देकर उसे उत्क्षेपण की क्रिया से पृथक् रूप में स्पष्टतः ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार वृक, वृक्ष आदि शब्दों में भी यद्यपि 'व' आदि ध्वनियाँ शब्दजाति-विशेश को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं फिर भी अपने आप में उनका भेद स्पष्टतया गृहीत नहीं होता। किन्तु क्रमशः इन सभी ध्वनियों की उपलब्धि होने पर जातिविशेष पर आधारित शब्द व्यवहार संभव हो जाता है और शुक, मैना और अलग-अलग मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त 'वृक्ष' आदि शब्द-व्यक्तियों में अभिन्नता का भान होता है। इसलिए उन सभी में वृक्षशब्दत्व नामक जातिस्फोट को स्वीकार किया जाता है (वा.प., I. वृत्ति, पृ. 53-57)। कर्म-जाति का यह उदाहरण भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड (वा.प., II. 20-21) में भी दिया है।

किन्तु इस जाति-व्यवहार का आश्रय लिये बिना भी अनेक ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य नित्य शब्द अर्थात् स्फोट को स्वीकार किया जा सकता है। ऐसा मानने वाले कहते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चारित पदों में 'यह वही पद है', ऐसा बोध होता है, 'इसमें वही जाति है', ऐसा नहीं। इसलिए यह माना गया है कि अलग-अलग वक्ताओं द्वारा उच्चरित 'वृक्ष' शब्द या 'घट' शब्द आदि शब्द-विशेष अभिन्न हैं। इस प्रकार शब्द एक, नित्य और विकारहीन है। वह उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है जो भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के कारण भिन्न-भिन्न उच्चारण-स्थानों से वायु के टकराने पर उत्पन्न होती हैं और इसलिए विकार को प्राप्त करती हैं। किन्तु जैसे दीपक का प्रकाश अपने द्वारा प्रकाश्य पदार्थ की उपलब्धि ही कराता है, उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार ये ध्वनियाँ शब्द के स्वरूप की उपलब्धि मात्र कराती हैं, उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करतीं। इस प्रकार विभिन्न अवसरों पर व्यक्त होने वाला स्फोटरूप शब्द एक और नित्य है किन्तु जब वह अभिव्यक्त होता है तो ध्वनिरूप उपाधियों के कारण भिन्न प्रतीत होता है।

95. **न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता।**
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते॥

अनु.:- और अभिव्यक्ति नियमतः अनित्य पदार्थों की ही नहीं होती। आश्रयभूत व्यक्तियों द्वारा भी नित्य जातियों की अभिव्यक्ति (अनित्यशब्दवादियों को भी) इष्ट है।

व्या.:- यहाँ से लेकर 101वीं कारिका तक नित्यशब्दवाद के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का उत्तर दिया गया है। वृत्ति में इन पूर्वपक्षों को स्पष्ट किया गया है। जो लोग शब्द को अनित्य मानते हैं उनकी सर्वप्रथम आपत्ति यह है कि जिन पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है वे अनित्य हैं। उदाहरण के लिए, घट, पट आदि पदार्थ प्रकाश द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। ये सभी पदार्थ अनित्य हैं। इसी प्रकार शब्द को भी अनित्य मानना चाहिए क्योंकि वह ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होता है। इन पूर्वपक्षियों का तर्कवाक्य इस प्रकार है :

प्रतिज्ञा : शब्दो अनित्यः (शब्द अनित्य है)।

हेतु : अभिव्यङ्ग्यत्वात् (अभिव्यङ्ग्य होने के कारण)।

उदाहरण : घटवत् (घड़े की भाँति)।

उपनय : शब्दश्चायं ध्वनिभिरभिव्यज्यते (शब्द भी ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है)।

निगमन : तस्मादनित्य: (इसलिए शब्द अनित्य है)।

यदि इस स्थिति से बचने के लिए कहें कि शब्द तो अभिव्यक्त नहीं होता तो यह मानना होगा कि शब्द उत्पन्न होता है और तब तो शब्द की अनित्यता स्पष्टत: सिद्ध है।

इस आपत्ति के उत्तर में सिद्धान्ती कहता है कि शब्द के अनित्यत्व को मानने वाले नैयायिक आदि भी जाति को स्वीकार करते हैं और उसे नित्य मानते हुए यह भी मानते हैं कि जाति अपने आश्रयभूत व्यक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार अभिव्यङ्ग्यत्व तो नित्य पदार्थों में भी देखा जाता है। इसलिए जिस हेतु (अभिव्यङ्ग्यत्व) के बल पर शब्द को अनित्य सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है वह अनैकान्तिक है और इसलिए मात्र हेत्वाभास है।

किन्तु कुछ दार्शनिक (जैसे बौद्ध) जाति को स्वीकार नहीं करते। उनके मत में तो सभी कुछ अनित्य है। उनके प्रति नित्यशब्दवादी का उत्तर यह है कि आप अभिव्यङ्ग्यत्व को हेतु ही नहीं मान सकते क्योंकि इस हेतु की कोई व्यतिरेक व्याप्ति तो आपके मत में बनेगी नहीं – 'जहाँ जहाँ अनित्यत्व नहीं है वहाँ-वहाँ अभिव्यङ्ग्यत्व भी नहीं है' ऐसा कोई उदाहरण आपके यहाँ संभव ही नहीं है। और यदि आप अभिव्यङ्ग्यत्व के आधार पर घट-पट आदि से सादृश्य मानकर शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करेंगे तो इसी सादृश्य के कारण घट-पट के दूसरे धर्म भी आपको शब्द में मानने होंगे, जैसे रूप, चाक्षुषत्व आदि। इस प्रकार से तर्क की कहीं समाप्ति ही नहीं होगी। अत: आपके निष्कर्ष में विसंगति स्पष्ट है।

वस्तुत: घट आदि पदार्थ अभिव्यक्त हों या न हों, उनके अनित्यत्व पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला। इससे स्पष्ट है कि अभिव्यङ्ग्यत्व अनित्यता का हेतु नहीं है।

96. देशादिभिश्च संबन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयो:॥

अनु.:- मूर्त पदार्थों का संबन्ध ही भिन्न-भिन्न देशों के साथ देखा जाता है। देशभेद की असत्य कल्पना होने पर भी ध्वनि और शब्द में ऐसा कोई भेद (वस्तुत:) नहीं है।

व्या.:- यहाँ पूर्वपक्ष की ओर से एक आपत्ति की संभावना की गई है। घट-पट आदि पदार्थों को दीपक तभी प्रकाशित करता है जब प्रकाशक और प्रकाश्य उसी स्थान पर हों। दूसरे के घर में रखा हुआ दीपक हमारे घर में रखे घट को प्रकाशित नहीं कर सकता। किन्तु शब्द तो आकाश में रहता है जबकि ध्वनियाँ उच्चारण-स्थानों और प्रयत्नों के माध्यम से वागिन्द्रिय के व्यापार द्वारा मुख में उत्पन्न होती हैं। एक स्थान पर स्थित शब्द भिन्न-भिन्न स्थानों में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों द्वारा कैसे व्यक्त हो सकता है? एक दूसरा विकल्प यह भी है कि शब्द उसे ग्रहण करने वाले के मानस में रहता है। तब भी उनकी भिन्नदेशता स्पष्ट है। भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमान शब्द और ध्वनि में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव कैसे संभव है? इसलिए यह मानना होगा कि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता अपितु प्रत्येक बार उत्पन्न होता है और इसलिए अनित्य है।

इस पर वैयाकरण का उत्तर यह है कि शब्द और ध्वनि तो अमूर्त हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के साथ संबन्ध तो मूर्त पदार्थों का देखा जाता है। एक देश अथवा नानादेश में होना मूर्त पदार्थों का धर्म है, अमूर्त पदार्थों का नहीं ('देशादिभिश्च' में आदि का अर्थ वृषभदेव ने 'भिन्न या अनेक' लिया है – आदिशब्देन भिन्नैर्बहुभिर्देशैरिति यावत् – पद्धति, पृ. 162)। मूर्त पदार्थों में भी अनेक ऐसे हैं, जैसे सूर्य, चन्द्रमा, जो एक स्थल पर रहते हुए भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होते हैं और दूरस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करते हैं। ध्वनि और शब्द तो वैसे भी देश और देशी जैसे व्यवहार से परे हैं। उनमें देश-भेद की बात करना कल्पना मात्र है। वस्तुत: अमूर्त होने के कारण उनमें ऐसा भेद है ही नहीं।

अय्यर के संस्करण में द्वितीय पाद में 'कायवतामपि' पाठ है। इसमें 'अपि' शब्द की सार्थकता स्पष्ट नहीं है। अभ्यंकर-लिमये और रामगोविन्द शुक्ल के संस्करण का पाठ अर्थ की दृष्टि से अधिक उचित प्रतीत होता है। इसलिए यहाँ हमने वही पाठ लिया है।

97. ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयो:॥

अनु.:- जैसे इन्द्रिय और उसके विषय की व्यञ्जक और व्यङ्ग्य के रूप में नियत योग्यता सिद्ध है वैसे ही नाद और स्फोट की भी है।

व्या.:- 'शब्द ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होता है', इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक और पूर्वपक्ष की उद्भावना करके उसका उत्तर देते हैं। अभिव्यञ्जक के नियम के कारण यह स्पष्ट है कि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। हमारे अनुभव में हम देखते हैं कि अभिव्यङ्ग्य को व्यक्त करने के लिए नियत व्यञ्जकों की अपेक्षा नहीं होती। घट का अभिव्यञ्जक दीपक केवल घट को ही नहीं अपितु अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार अभिव्यङ्ग्य घट केवल दीपक द्वारा ही नहीं अपितु सूर्य, चन्द्र, बिजली आदि के द्वारा भी प्रकाशित होता है। किन्तु शब्द के प्रसंग में नियम देखा जाता है। शब्द को अपनी अभिव्यक्ति के लिए नियत स्थान और प्रयत्न से उत्पन्न ध्वनियों की अपेक्षा होती है। कण्ठ से उत्पन्न ध्वनि ही अकार को व्यक्त करती है और 'च' वर्ण को अपनी अभिव्यक्ति के लिए तालु से उत्पन्न ध्वनि

(8) इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥

की ही अपेक्षा होती है। इस प्रकार का नियम तो जन्य पदार्थों में देखा जाता है। तन्तुओं द्वारा पट की ही उत्पत्ति होती है। घट की उत्पत्ति के लिए मिट्टी की आवश्यकता अपरिहार्य है। इसलिए शब्द का साम्य जन्य पदार्थों के साथ है, अभिव्यङ्ग्य पदार्थों के साथ नहीं। इसलिए शब्द अभिव्यक्त नहीं होता अपितु उत्पन्न होता है।

इसके उत्तर में भर्तृहरि इन्द्रिय (ग्रहण) और विषय (ग्राह्य) का दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक के विषय में भी नियम देखा जाता है। 'गृह्यते अनेन इति ग्रहणम्' (जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए वह 'ग्रहण' है) इस व्युत्पत्ति द्वारा 'ग्रहण' का अर्थ इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ विषयों की प्रकाशक हैं और विषय प्रकाश्य। ये इन्द्रियाँ नियत विषयों को ग्रहण करती हैं। चक्षुरिन्द्रिय ही रूप को अभिव्यक्त करती है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार इसे यों भी कह सकते हैं कि चक्षु में समवेत रूप बाह्य रूप की अभिव्यक्ति का कारण है। घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ही ग्रहण करती है, अन्य विषयों, जैसे रूप, रस आदि को नहीं। इस प्रकार का नियम होने पर भी इन्द्रिय और विषय में जनक और जन्य का संबन्ध नहीं है। इन्द्रियाँ विषय का ज्ञान कराती हैं, उसे उत्पन्न नहीं करती। इन्द्रियों और उनके द्वारा ग्राह्य विषयों में स्वाभाविक संबन्ध है जिसको योग्यता का नाम दिया गया है। योग्यता, संबन्ध को हम पहले (25वीं कारिका की व्याख्या में) स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार नियत ध्वनियों से नियत शब्दों की अभिव्यक्ति होने पर भी ध्वनि और शब्द में भी योग्यता नामक स्वाभाविक संबन्ध है जिसमें ध्वनि अभिव्यञ्जक है और स्फोट अभिव्यङ्ग्य।

(8) इन्द्रिय और विषय के इस दृष्टान्त का उपयोग भर्तृहरि शब्द और अर्थ के संबन्ध की स्वाभाविकता और नित्यता को बतलाने के लिए भी करते हैं (देखें, पीछे वा.प., 1.25 की व्याख्या में उद्धृत वा.प., 3.3.29)।

98. सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्।

अनु.:- अपनी सजातीय इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गन्ध आदि की अभिव्यक्ति में भी लोक में यह नियम देखा जाता है कि प्रत्येक द्रव्य में उनका प्रकाशक निमित्त नियत है।

व्या.:- पूर्वपक्षी का कहना है कि इन्द्रिय और विषय के बीच अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जक का नियम विजातीय इन्द्रिय और विषय के बीच ही रहता है। उदाहरण के लिए, तैजस परमाणुओं द्वारा निर्मित चक्षु से घटादि द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है जो पार्थिव परमाणुओं द्वारा निर्मित हैं। चक्षु में समवेत रूप नामक गुण घट आदि के रूप के अतिरिक्त उनके द्रव्यत्व को भी ग्रहण कराता है। त्वचा द्वारा अपने सजातीय वायु के अलावा विजातीय पार्थिव पदार्थों का भी ग्रहण होता है। किन्तु सजातीय इन्द्रिय और विषय के बीच यह नियमितता नहीं देखी जाती। गन्ध पृथ्वी का गुण है किन्तु पार्थिव परमाणुओं से ही निर्मित घ्राणेन्द्रिय उन पदार्थों की गन्ध को ग्रहण नहीं कर पाती जिनमें गन्ध अनुद्भूत है। इसी प्रकार शब्द के विषय में भी नियम नहीं होना चाहिये। भर्तृहरि कहते हैं कि गन्ध के प्रसंग में भी नियम देखा जाता है। स्वाभाविक गन्ध को ग्रहण होने के लिए यहाँ किसी संस्कारक निमित्त की अपेक्षा होती है और वह संस्कारक निमित्त भी प्रत्येक द्रव्य में नियत होता है। पृथ्वी की गन्ध जल के छिड़काव से उभरती है। कुंकम की गन्ध गाय के घृत द्वारा उद्भूत होकर ग्रहण के योग्य बनती है। आँवले की मिठास जल से अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार नियत ध्वनियाँ ही स्फोट की अभिव्यक्ति में समर्थ होती हैं।

99. प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके॥

अनु.:- अभिव्यङ्ग्य पदार्थ अभिव्यञ्जकों के भेदों का अनुकरण करता है; यह तथ्य तेल, जल आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्बों में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है।

व्या.:- पूर्वपक्षी एक बार फिर शब्द की अभिव्यक्ति मानने वाले पक्ष के विरुद्ध आपत्ति उठाता है। उसका कहना है कि अभिव्यञ्जक पदार्थों के भेद से अभिव्यङ्ग्य में भेद नहीं होने चाहिए किन्तु शब्द के विषय में इसका व्यतिक्रम देखा जाता है। बिजली का बल्ब जब घड़े को प्रकाशित करता है तो उसके छोटे-बड़े होने से घड़े का आकार प्रभावित नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि बल्ब के प्रकाश में जो घड़ा छोटा है वह सूर्य के प्रकाश में बड़ा दीखने लगे। न ही बल्बों की संख्या से घड़े की संख्या में अन्तर पड़ता है। यदि घड़ा एक है तो बल्ब एक हो या चार अथवा दस, घड़ा तो एक ही रहेगा। किन्तु शब्द में अभिव्यञ्जक ध्वनियों के भेद से भेद हो जाता है। ध्वनि के अनुसार शब्द में ह्रस्व-दीर्घ अथवा द्रुत-विलम्बित आदि भेद देखे जाते हैं। इसी प्रकार एक ध्वनि से एक वर्णरूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है और अनेक ध्वनियों से अनेक की। इससे सिद्ध होता है कि शब्द अभिव्यङ्ग्य नहीं, अपितु उत्पाद्य है और वह अपने कारण की विशेषताओं को ग्रहण करता है, जैसा कि *सांख्यकारिका* में कहा गया है - कारणभावाच्च सत्कार्यम्।

शब्दाभिव्यक्तिवादी इसके उत्तर में बतलाता है कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि अभिव्यञ्जक के भेद से अभिव्यङ्ग्य में भेद नहीं हो सकता। ऐसा भेद अन्यत्र भी देखा जाता है। मुख का प्रतिबिम्ब तेल में पड़ने पर श्याम दिखलाई पड़ता है जबकि जल में स्वच्छ प्रतीत होता है। दर्पण नीचा हो तो मुख ऊपर दिखलाई देता है और ऊपर के दर्पण में नीचा; तलवार में लम्बा दीखता है तो छोटे-छोटे काँच के टुकड़ों में छोटा। शीशमहल में एक ही मुख अनेक दिखलाई देता है। एक ही सूर्य पानी की लहरों में अनेक प्रतीत होता है। इसी प्रकार शब्द भी अभिव्यञ्जक ध्वनियों के भेद से अनेक प्रतीत होता है। इससे शब्दाभिव्यक्तिवादी के पक्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ध्वनिभेद

के कारण शब्द में दिखलाई देने वाले भेद वास्तविक न होकर प्रतीति मात्र हैं, यह बात भी भर्तृहरि प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा ही पीछे 49वीं कारिका में स्पष्ट कर चुके हैं।

पूर्वपक्षी इस समाधान से संतुष्ट नहीं है। उसका कहना है कि जल में या दर्पण में प्रतिबिम्ब जिन गुणों को ग्रहण करता है वे तो उसके अपने धर्म हैं क्योंकि प्रतिबिम्ब तो बिम्ब से भिन्न सत्ता है। इस प्रकार वे गुण मात्र अभिव्यञ्जक के धर्मों का अनुकरण नहीं है। दर्पण और प्रतिबिम्ब में अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए पिछली कारिका में दिया गया उदाहरण असंगत है। इसका उत्तर अगली कारिका में देते हैं –

100. विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु।
पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति संभवः॥

अनु.:- विपरीत – अर्थात् सर्वथा भिन्न – आकार वाले हीरे या दर्पण के तल आदि में पर्वत आदि के समान रूप वाले पदार्थों की उत्पत्ति संभव नहीं।

व्या.:- हीरे और दर्पण जैसे प्रतिबिम्बकों में पड़ने वाले पर्वत आदि पदार्थों के प्रतिबिम्ब नये पदार्थ नहीं हो सकते क्योंकि उनके आकार सर्वथा विपरीत हैं। यह कैसे संभव है कि इतने छोटे-छोटे प्रतिबिम्बकों में प्रर्वत या हाथी जैसे विशालकाय पदार्थ नये उत्पन्न हो जाएँ? इसलिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब को भिन्न मानकर की गई आपत्ति उचित नहीं है। अतः दर्पण और प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत संदर्भ में सर्वथा उपयुक्त है।

101. तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद्विभज्यते॥

अनु. :- (क्योंकि अभिव्यङ्ग्य अभिव्यञ्जक के धर्मों का अनुकरण करता है) इसलिए ध्वनि के भेद से वर्ण, पद और वाक्य आदि में शब्द का स्वकाल और वृत्तिकाल विभाजित होता है यद्यपि उनमें काल का भेद नहीं है।

व्या.:- पहले कह चुके हैं (देखें कारिका 99) कि अभिव्यङ्ग्य पदार्थ अभिव्यञ्जक के भेदों का अनुकरण करते हैं। इसीलिए यद्यपि शब्द कालभेद से रहित है तथापि उसमें ह्रस्व, दीर्घ आदि भेदों की प्रतीति होती है। वस्तुतः ये सभी भेद ध्वनि के धर्म हैं। शब्द नित्य है। शब्द की उपलब्धि से पूर्व और उपलब्धि के पश्चात् यद्यपि शब्द सुनाई नहीं पड़ता फिर भी उसकी सत्ता का बोध तो रहता ही है। इससे भी शब्द का नित्यत्व स्पष्ट है और नित्य पदार्थों की स्थिति में काल की कोई भूमिका नहीं। अतः शब्द में वृद्धि, ह्रास, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत जैसे भेदों का होना संभव नहीं। किन्तु लौकिक व्यवहार में शब्द की उपलब्धि का काल ही शब्द का काल माना जाता है। इसलिए ध्वनि और शब्द के भेद का ग्रहण न होने के कारण ध्वनि के काल को शब्द पर आरोपित कर दिया जाता है और वर्णस्फोट, पदस्फोट या वाक्यस्फोट कालभेद से युक्त प्रतीत होते हैं। कारिकागत 'आदि' पद से अनुवाक अर्थात् किसी एक सम्पूर्ण विचार को प्रस्तुत करने वाले अध्याय आदि का ग्रहण किया जा सकता है। कारिका में 'स्वकाल' से तात्पर्य है शब्द का अपना काल अर्थात् वह काल जो नादधर्म होने पर भी शब्द के अपने स्वरूप पर आरोपित कर दिया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कालभेद के व्यवहार का नियमन करते हैं। वे प्राकृत ध्वनि के भेद हैं किन्तु वे शब्दस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य हैं। शब्द की उपलब्धि से पूर्व प्राकृत ध्वनि उत्पन्न होती है अतः प्राकृत ध्वनि और शब्द (स्फोट) में तादात्म्य मानकर इस काल को शब्द का स्वकाल कहा गया है। शब्द की अभिव्यक्ति के अनन्तर प्राकृत ध्वनि से उत्पन्न होने वाली ध्वनि वैकृत ध्वनि है जो वास्तव में प्राकृत ध्वनि की अनुगूँज है। जितने समय तक यह अनुगूँज रहती है उतने समय स्फोट की उपलब्धि बनी रहती है। अतः वैकृत ध्वनि के भेदों – द्रुत, मध्य और विलम्बित – से नियमित काल को, जो वस्तुतः ध्वनि की वर्तमानता का काल है, शब्द का वृत्तिकाल अर्थात् शब्द की निरन्तरता का काल कहा गया है। ये भेद ध्वनि के भेद हैं जो अभिव्यञ्जक ध्वनियों के कारण अभिव्यङ्ग्य शब्द में गृहीत होते हैं। इस विषय में वा.प., 1.75-77 पुनः द्रष्टव्य हैं जहाँ भर्तृहरि पहले यही चर्चा कर चुके हैं। यहाँ शब्द की अभिव्यक्ति के विरुद्ध उठाये गए पूर्वपक्षों का उत्तर देने के बाद उपसंहार के रूप में वे पुनः यह तथ्य स्थापित कर रहे हैं कि स्फोट में प्रतीत होने वाला भेद ध्वनियों के कारण है, तात्त्विक नहीं। तत्त्वतः शब्द नित्य और निरवयव है।

102. यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

अनु.:- (वायु अथवा जिह्वा के) संयोग और विभाग से उच्चारण-स्थानों (कण्ठ, तालु आदि) और प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न होने वाला शब्द अन्य दार्शनिकों द्वारा स्फोट, और इस शब्द से उत्पन्न शब्द ध्वनियाँ कही गई हैं।

व्या.:- यहाँ *भर्तृहरि* उन लोगों के मत का उल्लेख कर रहे हैं जिनके अनुसार स्फोट उच्चारण-स्थानों और प्रयत्नों के द्वारा वायु के संयोग-विभाग से उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाला प्रथम शब्द ही इस मत में स्फोट है; अतः स्फोट अनित्य है। इस उत्पन्न हुए शब्द से जो शब्द-शृंखला उत्पन्न होती है, वह *कदम्बकोरक* अथवा *वीचीसन्तान* की भाँति है। जैसे कदम्ब का पुष्प खिलने पर उसकी पंखुड़ियाँ चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार शब्द से उत्पन्न शब्द चारों ओर फैलता है। अथवा यह प्रक्रिया तरंगों की भाँति है। जैसे एक तरंग दूसरी को और दूसरी तीसरी को जन्म देती है और इस प्रकार क्रमशः क्षीण होती जाती है, उसी प्रकार शब्द भी क्रमशः दूसरे शब्द

को जन्म देते हुए मूल शब्द के प्रतिबिम्ब की भाँति सभी दिशाओं में फैलकर श्रोता के कानों तक पहुँचते हैं। इस शब्द-सन्तान में प्रत्येक परवर्ती शब्द क्रमशः क्षीण होता जाता है वैसे ही जैसे दीपक की प्रभा दूर-दूर जाती हुई मन्द से मन्दतर होती जाती है। इसीलिए दूरस्थ श्रोता मन्द ध्वनि का ग्रहण करते हैं और उससे भी दूरस्थ लोग मात्र अव्यक्त ध्वनि का। शब्द से उत्पन्न ये शब्द *अनित्यस्फोटवादियों* के अनुसार *ध्वनि* कहलाते हैं।

कहना कठिन है कि यह मत वैयाकरणों के किसी संप्रदाय का है अथवा न्याय-वैशेषिक आचार्यों का या फिर बौद्धों का, जो शब्द को अनित्य मानते हैं। यद्यपि बौद्ध एवं न्याय-वैशेषिक आचार्यों (जयन्त, भासर्वज्ञ, उदयन, श्रीधर आदि) ने स्फोट-सिद्धान्त की आलोचना की है फिर भी, ऐसा लगता है कि यहाँ स्फोट शब्द का प्रयोग 'वाचक शब्द' के अर्थ में हुआ है। बौद्धों के अनुसार वर्ण ही वाचक हैं। ये क्षणिक हैं और प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हैं। प्रत्येक पद में दिखलाई देने वाले वर्ण भिन्न हैं। *स्फोटसिद्धि* में *कारिका 28* की अवतरणिका में बौद्धपक्ष प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार क्रमशः उत्पन्न होने वाले वर्ण, जो उच्चारण करने वाली इन्द्रियों के व्यापार के कारण परस्पर भिन्न हैं, निश्चित संकेत के अनुसार अर्थ के बोधक हैं। अमुक क्रम में रखे हुए अमुक-अमुक वर्ण अमुक अर्थ के वाचक हैं, यह संकेत ही उनकी अर्थबोधकता का कारण है - ''तस्मात्क्रमभाविन एवं यथास्वं करणप्रयोगाद् भिन्ना वर्णभागाः ... यथासंकेतं प्रत्ययहेतवः'' (*स्फोटसिद्धि*, पृ. 79)।

न्याय-वैशेषिक मत में भी वर्ण उत्पन्न और नष्ट होता है किन्तु न्याय-वैशेषिक मत में ये वर्ण परस्पर मिलकर पद की और फिर पद मिलकर वाक्य की रचना करते हैं। बौद्धों के मत में शब्द निरवयव और क्षणिक ध्वनिरूप है जबकि न्याय-वैशेषिक मत में वह सावयव है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में भी वर्ण को ही शब्द माना गया है जो संयोग और विभाग से उत्पन्न होता है और फिर संयोग-विभाग से उत्पन्न उसी शब्द से शब्द-सन्तान का जन्म होता है, जैसा कि वैशेषिकसूत्र (2.2.31) में कहा है - *"संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः।" न्यायसूत्र* 2.2.13 के वात्स्यायनभाष्य में भी कहा है - *"संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्यः।"* वात्स्यायन का कहना है कि शब्द संयोग से उत्पन्न होता है और उससे शब्दों की एक शृंखला उत्पन्न होती है जो श्रोता के कानों तक पहुँचती है - *"तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः। उत्पादके तु संयोगे संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसंताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहणम्।"* अनित्यस्फोटवादियों की स्फोट की परिभाषा शब्द को अनित्य मानने वाले इस मत से मेल खाती है।

इस प्रकार नित्यस्फोटवादी जिसे प्राकृत ध्वनि कहते हैं वह इस मत में स्फोट है और ध्वनि वह है जिसे *नित्यस्फोटवादियों* ने वैकृत ध्वनि कहा है। नित्यस्फोटवादियों के मत में स्फोट ध्वनियों से उत्पन्न नहीं होता अपितु अभिव्यक्त होता है। जब बहुत दूर स्थित श्रोताओं तक ध्वनि मात्र अनुरणन (गूँज) के रूप में पहुँचती है तो स्फोट का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता। यह स्मरणीय है कि यद्यपि 'स्फोट' शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं वर्णस्वरूप अथवा वर्णजाति के लिए हुआ है फिर भी अन्ततः एक इकाई के रूप में अवधारित, अर्थ का वाचक पद अथवा वाक्य ही वैयाकरणों के अनुसार स्फोट है। मण्डन मिश्र ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कही है - पदवाक्ये एव हि स्फोटः। (*स्फोटसिद्धि*, पृ. 69)

स्फोट को अनित्य मानने वाले पक्ष की चर्चा भर्तृहरि ने *महाभाष्यदीपिका* में भी की है। प्रत्याहाराह्निक में 'ऐऔच्' सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि प्रश्न करते हैं कि सन्ध्यक्षरों में अन्य वर्णों के समान आकृति वाले जिन अवयवों की प्रतीति होती है। (जैसे, 'ए' में अ+ इ की, 'ओ' में अ+उ की), वे अवयव क्या स्वतन्त्र रूप में 'अ, इ' आदि के ग्रहण में गृहीत होते हैं। पतञ्जलि ने इस सम्बन्ध में 'कृपो रो लः' (*अष्टा.*, 8.2.18) का उदाहरण दिया है। धातुपाठ में पाणिनि 'कृप्' धातु (कृपू सामर्थ्ये) पढ़ते हैं। प्रस्तुत सूत्र से वहाँ 'कृप्' के 'र्' के स्थान पर 'ल्' का विधान किया गया है। इस प्रकार 'कल्पते' आदि रूपों के साथ-साथ 'क्लृप्त' आदि रूप भी बनते हैं। अब 'ऋ' अखण्ड वर्ण है तो 'र्' और 'ल्' के ग्रहण में 'ऋ', 'लृ' का ग्रहण नहीं हो सकता। तब 'क्लृप्त' में 'ऋ' को 'लृ' कैसे होगा? पतञ्जलि इस पर अनेक समाधान देते हैं। इनमें एक यह है कि 'र्' और 'ल्' दोनों में स्फोटमात्र का निर्देश है; 'ऋ' में रश्रुति (र-सदृश अवयव) को लश्रुति (लकारसदृश रूप) हो जाती है - अथवोभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते। रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवति (*म.भा.*, I, पृ. 26)। यहाँ स्फोट से पतञ्जलि का तात्पर्य ध्वनि के उस रूप से है जो एक आकृति के रूप में र-वर्ण और ऋ-वर्ण दोनों में विद्यमान है। भर्तृहरि यहाँ स्फोटशब्द की तीन व्याख्याओं में स्फोट के कार्यपक्ष (उत्पत्तिपक्ष) को भी प्रस्तुत करते हैं। इस व्याख्या के अनुसार स्फोट संयोग, विभाग अथवा दोनों से उत्पन्न होता है और उस स्फोट से ही अनुरणन (अनुगूँज) उत्पन्न होता है। इस प्रकार ऋकार में मात्र 'र्' के उत्पादक व्यापार का ग्रहण प्रस्तुत सूत्र में अभिप्रेत है। वह 'र्' स्वतन्त्र रेफ (र-वर्ण) है अथवा ऋकार के अवयव के रूप में, यह भेद यहाँ विवक्षित नहीं : *"अथवा कार्यवत् बुद्धिं कृत्वा इदमुच्यते। तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगगात् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा नष्पद्यते। यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव। तेन य एवासौ करणस्य व्यापारस्तावत एवाश्रयणम्" (म.भा.दी., पृ. 76)।*

इस संदर्भ में भर्तृहरि की अन्तिम व्याख्या यह है कि स्फोट से यहाँ जाति का ग्रहण होता है जिसके कारण जहाँ-जहाँ भी रेफ अथवा लकार का ग्रहण होता है, चाहे अवयव के रूप में या स्वतन्त्र वर्ण के रूप में, उन सभी जातिरूप में ग्रहण 'कृपो रो लः' सूत्र में अभिप्रेत है– *"अथवा स्फोटमात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति।...... आकृत्याश्रयणस्येदं प्रयोजनमन्तर्भूतानन्तर्भूतयो रेफयोः प्रतिपत्त्यर्थम् (वही)।*

103. अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयापचयात्मकः॥

अनु.:- शब्द का परिमाण अल्प हो या महान्, उससे स्फोट के काल में भेद नहीं होता। किन्तु उस स्फोट से उत्पन्न होने वाली शब्द-सन्तान वृद्धि अथवा ह्रास से युक्त होती है।

व्या.:- वृषभदेव के अनुसार 'अल्प' का अर्थ है ह्रस्व, और 'महत्' का अर्थ है दीर्घ और प्लुत। शब्द ह्रस्व हो या दीर्घ, प्रथम शब्द की उत्पत्ति तो एक क्षण के लिए ही होती है। यह प्रथम शब्द ही इस पक्ष में स्फोट है। वह प्रथम शब्द ह्रस्व हो या दीर्घ अथवा प्लुत, उसका काल जब क्षणभर का है तो उसमें कालभेद की संभावना ही नहीं है। फिर शब्द में मात्रा आदि के रूप में कालभेद की प्रतीति क्यों होती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि प्रथम शब्द से उत्पन्न जो शब्द-शृंखला है, उसी में वृद्धि और ह्रास होते हैं। वे वृद्धि और ह्रास ही शब्द के भेद मान लिये जाते हैं।

वस्तुतः वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से देखें तो शब्द एक गुण है। अल्प परिमाण और महत्परिमाण भी गुण हैं। गुण तो द्रव्य में ही रह सकता है, गुण में नहीं। फिर शब्द में अल्पत्व और महत्त्व कैसे संभव है? शब्द को यदि द्रव्य मानें तब भी वह है तो अमूर्त जबकि अल्पत्व और महत्त्व तो मूर्त पदार्थों के धर्म हैं। फिर वे शब्द में कैसे रहते हैं? वृत्ति में इस आक्षेप के दो समाधान दिये गए हैं। जैसे छोटी-सी सुई थोड़े से देश को व्याप्त करती है और विशाल पर्वत विशाल क्षेत्र को, उसी प्रकार शब्द भी दूर देश तक जाता है अथवा समीपस्थ प्रदेश में ही समाप्त हो जाता है; इसलिए अन्य पदार्थों की भाँति उपचारवश उसे महत्परिमाण अथवा अल्प-परिमाण कह दिया जाता है। दूसरा समाधान यह है कि इस प्रकार का व्यवहार लोकप्रसिद्धि के कारण होता है। पदार्थ के स्वभाव की व्यवस्था लोकप्रसिद्धि के आधार पर ही होती है, तर्क या आगम से नहीं। वस्तुतः जब प्रत्येक शब्द, चाहे वह प्रथम उत्पन्न स्फोट हो या उससे उत्पन्न ध्वनियों की परम्परा, उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है तो उसमें कालभेद का प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। किन्तु जैसे नगाड़े पर चोट करने पर उसका शब्द दूर तक जाता है और लोहे या काँसे पर की हुई चोट का शब्द समीपस्थ प्रदेश में ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार उच्चारण-स्थान और प्रयत्न के अभिघात के भेद से किसी शब्द की कार्यपरम्परा बहुत दूर तक जाती है और किसी की कम दूरी तक। कार्यरूप ध्वनियों की परम्परा का यह भेद ही शब्द का भेद मान लिया जाता है। इस प्रकार अनित्यस्फोट मानने वाले पक्ष में भी स्फोट के काल में भेद नहीं है, ऐसा माना जाता है। नित्यपक्ष में ऐसा भेद नहीं है, यह पहले ही 'स्फोटस्याभिन्नकालस्य' (कारिका 75) द्वारा कह चुके हैं।

104. दूरात्प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते॥

अनु.:- दूर से, दीपक के प्रकाश की भाँति, मात्र ध्वनि लक्षित होती है और घण्टा आदि के शब्दों में (स्फोट और ध्वनि का) वह भेद स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

व्या.:-कुछ दार्शनिकों का कहना है कि जैसे दीपक की लौ अपनी प्रभा के साथ ही उत्पन्न होती है, अथवा जैसे गन्धयुक्त द्रव्य अपनी गन्ध के साथ ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्फोट भी ध्वनि के साथ ही उत्पन्न होता है। इसलिए वे मानते हैं कि स्फोट और ध्वनि भिन्न नहीं हैं। वृषभदेव के अनुसार यह मत भी अनित्यशब्दवादियों के ही एक वर्ग का है। इसके उत्तर में भर्तृहरि बतलाते हैं कि दूर से हम स्फोट का ग्रहण नहीं कर पाते, किन्तु ध्वनि मात्र को सुनते हैं। लोगों की भीड़ में हमें ध्वनि ही सुनाई पड़ती है, मूल शब्द (स्फोट) नहीं। यह उसी प्रकार है जैसे दूर से हम दीपक के प्रकाश को तो देख पाते हैं किन्तु उसकी लौ को नहीं। लौ के न दीखने पर भी प्रकाश के दिखलाई पड़ने से दोनों का भेद स्पष्ट है। दीपक की लौ का कारण तेजस् नामक द्रव्य है और दीपक का प्रकाश उसी का अनुवर्ती परिणाम है। इसी प्रकार परवर्ती ध्वनियाँ प्रथमतः उत्पन्न स्फोट का परिणाम हैं। घण्टा, भेरी आदि के नाद में प्रथम ध्वनि और परवर्ती अनुरणन-रूप ध्वनियों का यह भेद स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। प्रथम अभिघात से उत्पन्न ध्वनि तीक्ष्ण होती है जबकि उससे उत्पन्न होकर दूर तक फैलती हुई अन्य ध्वनियाँ मन्द पड़ती जाती हैं। घण्टे पर आघात के काफ़ी समय बाद भी ये ध्वनियाँ सुनाई पड़ती रहती हैं। इस प्रकार इनका भेद स्पष्ट है।

इस प्रकार स्फोट और ध्वनि का यह भेद कार्यस्फोटवादियों के मत में भी माना जाता है। पूर्वोल्लिखित यह भेद नित्यस्फोटवादियों द्वारा स्वीकृत प्राकृत और वैकृत ध्वनि के भेद के समकक्ष ही है।

105. द्रव्याभिघातात्प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तिविशेषकाः॥

अनु.:- उच्चारण-स्थान पर वागिन्द्रिय के आघात से वृद्धि को प्राप्त हो कर दीर्घ और प्लुत वर्ण (ह्रस्व की अपेक्षा, और परस्पर भी) भिन्न होते हैं। (उन्हें जन्म देने वाले) कम्पन के रुक जाने पर जो नाद उत्पन्न होते हैं वे (द्रुत आदि) वृत्तियों के भेद को जन्म देते हैं।

व्या.:- यदि स्फोट नामक प्रथम ध्वनि का काल क्षणभर का ही है तो द्रुत आदि वृत्तियों से दीर्घ-प्लुत आदि में क्या भेद है? इस आक्षेप का समाधान प्रस्तुत कारिका में मिलता है। वर्णों के स्फोट में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि का भेद ध्वनि की वृद्धि अथवा ह्रास के कारण नहीं, अपितु अभिघात की तीव्रता के कारण होता है जबकि द्रुतादि वृत्तियों का भेद ध्वनि के वृद्धि-ह्रास पर निर्भर है। 'द्रव्याभिघात' शब्द में

द्रव्य का अर्थ है - स्थान और करण। वक्ता ह्रस्व आदि जो वर्ण [illegible] चाहता [illegible] के अनुरूप प्रयत्न करता हुआ उच्चारण-स्थानों पर करण अर्थात् जिह्वा के अग्र-उपाग्र आदि द्वारा [illegible] और दीन तथा प्लुत के लिए तीव्र एवं तीव्रतर आघात किया जाता है। इस प्रकार [illegible] के अभिघात में जो भेद है उसके कारण ह्रस्व-दीर्घ जैसे भेद होते हैं, ये भेद नाद के प्रचय [illegible] के कारण नहीं होता। नित्यपक्ष में यह प्राकृत ध्वनि का भेद है और कार्यपक्ष में स्फोट का स्वरूपभेद है। इसीलिए [illegible] कहते हैं - *नार्थं [illegible]कृतो दीर्घादिभेदः। किन्तर्हि? स्फोटात्मरूपभेदः* (पद्धति, वा.प. 1, पृ. 172)। उच्चारण-स्थानों और वागिन्द्रिय के आघात के फलस्वरूप उनके विभिन्न अवयवों का परस्पर स्पर्श कराता हुआ एवं वायु के स्पन्दन का अनुगमन करता हुआ एक कम्पन उत्पन्न होता है जो उन वर्णों द्वारा अपने विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करने तक बना रहता है। यह कम्पन वर्णरूप का ग्रहण कराकर शान्त हो जाता है और उस कम्पन से उत्पन्न प्रथम नाद से उसके प्रतिबिम्बरूप अन्य नाद उत्पन्न होते हैं। ये नाद अपनी अल्पता, विशालता आदि के द्वारा द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेदों के निमित्त बनते हैं।

106. अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरं।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव॥

अनु.:- कम्प का विच्छेद न होने पर भी,[1] अन्य ध्वनियाँ स्फोट से ही उत्पन्न होती हैं जैसे एक ज्वाला से अन्य ज्वालाएँ।

व्या.:- पिछली कारिका में कहा था कि उच्चारण-स्थानों के साथ वागिन्द्रिय के संपर्करूप आघात से जो कम्पन उत्पन्न होता है वह प्रथम ध्वनि को जन्म देता है और इस कम्पन के रुकने के पश्चात् उस प्रथम ध्वनि के अनुरणन (अनुगूँज) से उत्पन्न अन्य (वैकृत) ध्वनियाँ वृत्तिभेद की निमित्त बनती हैं। प्रस्तुत कारिका में इसी संबन्ध में एक अन्य मत प्रस्तुत करते हैं। कम्पन का व्यापार प्रथम ध्वनि को जन्म देकर ही नहीं रुक जाता, अपितु उसके पश्चात् भी चलता रहता है। कम्पन के अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहते हुए भी प्रथम उत्पन्न ध्वनि (कार्यस्फोट) अपनी कार्यरूप ध्वनि को जन्म दिये बिना निवृत्त नहीं होती। यदि वह पहले ही निवृत्त हो जाए तो वैकृत ध्वनियाँ उत्पन्न ही न हों। उस कम्पन से उत्पन्न ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति की निमित्त है। स्फोट की समानकालिक इन ध्वनियों से उत्पन्न होने वाली मध्यवर्ती ध्वनियाँ अनुषङ्ग कहलाती हैं। जैसे अग्नि की एक ज्वाला से अन्य ज्वालाएँ - दूसरी, तीसरी, चौथी आदि - उत्पन्न होती रहती हैं वैसे ही उनमें प्रत्येक अनुषङ्गभूत ध्वनि से उत्पन्न ध्वनियों की परम्परा उस कम्पन के विच्छिन्न होने तक चलती रहती है और जैसे वे ज्वालाएँ पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करती हैं वैसे ही ये ध्वनियाँ उत्पन्न हुए उस स्फोट की नैरन्तर्ययुक्त प्रतीति में सहायक होती हैं।[2]

---

1. अम्बाकर्त्री टीका में 'अनवस्थितकम्पेऽपि' का अर्थ [illegible] किया गया है (करणजिह्वाग्रोपाग्रादावकम्पेऽपरतेऽपि ..." रघुनाथ शर्मा : 1963: पृ. 185)। अय्यर का अंग्रेजी अनुवाद भी (1965 पृ. 101) ऐसा ही अर्थ देता है, किन्तु हमारे विचार में 'कम्पन के रहते हुए भी' ऐसा अर्थ [illegible] उचित भी है और प्रसंगानुकूल भी। [illegible] "[illegible]विच्छेदेऽनुवर्तमाने [illegible] पृ. 172)।
2. इस कारिका [illegible]

वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)

मिथिलेश चतुर्वेदी
संस्कृत विभाग, दिल्ली वि.वि.,
दिल्ली – 110007

पाठ 9
(कारिका 107-120)

107. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद् दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः।।

अनुवाद : कुछ आचार्यों के मत में वायु, कुछ के अनुसार अणु और कुछ के अनुसार ज्ञान शब्द बनते हैं। विभिन्न वादों में दृष्टि का भेद अनन्त है।

व्याख्या : शब्द की उत्पत्ति के विषय में भर्तृहरि यहाँ विभिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। 'कैश्चिद्' शब्द का संबन्ध तीनों मतों के साथ है (कैश्चिद् वायोः कैश्चिदणूनां कैश्चिद् ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिः इष्यते)। इन मतों को प्रस्तुत करने वाले आचार्य कौन हैं, इस पर मतभेद है। वीरेन्द्र शर्मा (1977: पृ. 13) के अनुसार ये अलग अलग शिक्षाकारों के मत हैं। स्वयं वृत्ति में भी यह कहा गया है कि इस विषय में शिक्षासूत्र और उन पर भाष्य के कर्ताओं के अनेक प्रकार के मत हैं और ये तीन मत तो निदर्शन मात्र हैं (निदर्शनमात्रं चेदम्। बहुधा शिक्षासूत्रकारभाष्यकारमतानि दृश्यन्ते। – वृत्ति, पृ. 175)।

वायु से शब्द की उत्पत्ति मानने वाला प्रथम मत शब्द के स्थूल पक्ष को ही दृष्टिगत रखता है जब शरीर के भीतर की वायु के विभिन्न उच्चारण-स्थानों से टकराने पर शब्द अथवा ध्वनि की उत्पत्ति होती है। दूसरा मत कुछ विद्वानों के मत में जैनों का है जो पुद्गलों से शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। नागेश के अनुसार यहाँ अणु से तात्पर्य शब्दतन्मात्रा से है जो सांख्य सिद्धान्त में स्वीकृत पञ्चतन्मात्रों में से एक है (अणूनां शब्दतन्मात्रपरमाणूनाम्। –लघुमञ्जूषा, पृ.184, माधवशास्त्रि भण्डारी द्वारा संपादित, वाराणसी, 1989 पुनर्मुद्रित; उद्योत टीका, महाभाष्य 1.4.29 पर)। वीरेन्द्र शर्मा इसे भी किसी प्राचीन शिक्षाकार का मत मानते हैं। ज्ञान को शब्द का परिणाम मानने वाला तीसरा मत कैयट के अनुसार महाभाष्यकार पतञ्जलि का मत है। इन सभी मतों पर कुछ अधिक विस्तार से चर्चा हम अगली कारिकाओं की व्याख्या में करेंगे।

इस संबन्ध में दृष्टिभेदों को प्रदर्शित करने के लिए वृत्ति में इस प्रकरण के अन्त में शिक्षाकारों के कुछ अन्य मत भी उद्धृत किये गये हैं। इनमें एक मत के अनुसार "शब्द के सूक्ष्म अवयव नाड़ियों के भीतर विद्यमान रहते हैं। वक्ता की अभिव्यक्ति की इच्छा से जब अन्तर्वर्ती प्रयत्न सक्रिय होता है तो प्राणवायु ऊपर की ओर उठता है और शारीरिक ऊष्मा की सहायता से उन सभी सूक्ष्म अवयवों को सघन कर देता है। शब्द के वे सूक्ष्मांश उच्चारण-स्थानों में वैसे ही एकत्र हो जाते हैं जैसे धूम के अंश वायु से प्रेरित होकर एकत्र हो जाते हैं और वह शब्दघन किसी प्रकाशमात्र के माध्यम से अन्तर में स्थित अविभक्त शब्द के बिम्ब को ग्रहण कर लेता है।" इस मत में शब्द के सूक्ष्म अंशों की भी चर्चा की गई है और अन्तःसंनिवेशी अविभक्त शब्द की भी। इसी प्रकार, अन्य अनेक मत भी वृत्ति में उद्धृत हैं। इन सभी में कुछ समानताएँ दिखलाई देती हैं तो कुछ भेद भी हैं।

108. लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।।

अनुवाद : वक्ता की इच्छा का अनुवर्तन करने वाले प्रयत्न द्वारा प्रेरित हुआ (आन्तरिक) वायु (तालु आदि) स्थानों से टकराकर शब्दरूप में परिणत होता है।

व्याख्या : यह और इससे आगे की सात कारिकाएँ अय्यर द्वारा वृत्ति के अन्तर्गत मानी गई हैं। अय्यर के मत में इन्हें वाक्यपदीय के कारिकापाठ के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि वृत्ति में इनकी व्याख्या नहीं की गई है अपितु इन्हें उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिर भी हम मूल ग्रन्थ के अन्तर्गत ही इन्हें रखकर व्याख्या कर रहे हैं क्योंकि अन्य अधिकांश संस्करणों (अभ्यंकर, सूर्यनारायण शुक्ल, रघुनाथ शर्मा आदि) ने इन्हें कारिकापाठ में ही रखा है।

वायु से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले चिन्तकों के अनुसार वायु उच्चारण-स्थानों से टकराकर शब्दत्व की स्थिति को प्राप्त होता हैं। नागेश स्पष्ट करते हैं (लघुमञ्जूषा, पृ.184) कि वायु से तात्पर्य प्राण आदि के रूप में विद्यमान वायु से है, अर्थात् उस वायु से, जो शरीर के भीतर संचरण करता है। योगसूत्र (3.17) पर योगवार्तिक में विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वागिन्द्रिय, शंख, बाँसुरी आदि से टकराकर उदानवायु ध्वनिरूप में परिणत होता है जिसके कारण वह उदानवायु वक्ता के देह से उठकर शब्दधारा को उत्पन्न करता हुआ श्रोता के कान तक पहुँचता है। उसी ध्वनि का परिणामभूत, नाद कहलाने वाला

शब्दसामान्य श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। किन्तु व्यासभाष्य को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि वाचक पद इससे भिन्न है और वह ध्वनि का परिणाम नहीं है। व्यासभाष्य में कहा गया है कि पद बुद्धिग्राह्य है, श्रोत्रग्राह्य नहीं।

शब्द की नित्यता की स्थापना करते हुए शबरस्वामी मीमांसासूत्र 1.1.22 के भाष्य में एक पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार शब्द नित्य नहीं हो सकता क्योंकि वह वायु का उत्पाद है। इसी संदर्भ में पूर्वपक्षी द्वारा शिक्षाकारों का वचन उद्धृत किया गया है – "तथा च शिक्षाकारा आहुः, वायुरापद्यते शब्दतामिति।" किन्तु शबर ने इस आधार पर इसका खण्डन किया है कि यदि शब्द वायुनिर्मित होते तो वे वायु का आकार-विशेष होते। किन्तु शब्द में हमें वायवीय अवयवों की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। इसके अतिरिक्त, शब्द स्पर्शग्राह्य भी नहीं हैं। अतः उन्हें वायु का विकार नहीं माना जा सकता। नैयायिकों ने भी शब्द को वायुनिर्मित मानने के पक्ष का खण्डन किया है (देखें, गौरीनाथ शास्त्री 1992: पृ. 45-46)।

पं. सूर्यनारायण शुक्ल और वामदेव आचार्य ने इस संबन्ध में शुक्लयजुःप्रातिशाख्य के कुछ सूत्र उद्धृत किये हैं–"वायुः खात्, शब्दस्तत्, सङ्करोपहितः ससङ्घातादीन् वाक्।" अर्थात्, "वायु आकाश (ख) से उत्पन्न होता है और वह शब्दरूप है। वह उपयुक्त करणों (सङ्कर – सम्यक् करण) जैसे शंख, वेणु आदि के माध्यम से शब्द बनता है और मनुष्य के प्रयत्न, स्थान (संघात) आदि को प्राप्त कर वाक् अर्थात् वर्ण बन जाता है।" इसी से मिलते-जुलते अन्य वचन भी प्रातिशाख्यों एवं शिक्षाग्रन्थों में मिलते हैं।

109. तस्य कारणसामर्थ्यात् वेगप्रचयधर्मणः।
सन्निपाताद्विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः।।

अनुवाद : वेग और घनीभूत होना (प्रचय) जिसके धर्म हैं ऐसे वायु की कारणताशक्ति के संयोग से सारयुक्त पदार्थ भी विभाजित हो जाते हैं।

व्याख्या : इस अंश की व्याख्या करते हुए पद्धति टीका में वृषभदेव कहते हैं कि जब यह वायु पर्वत आदि सारवान् पदार्थों को भी विभक्त कर देता है तो तालु आदि के विभाग की तो बात ही क्या है। किन्तु अम्बाकर्त्रीकार पं. रघुनाथ शर्मा इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं क्योंकि वर्णों की उत्पत्ति तालु आदि के विभाग से नहीं होती। अतः तालु आदि के संयोग से वायु का ही विभाग यहाँ अभिप्रेत है। रघुनाथ शर्मा के अनुसार, यह कारिका इस प्रश्न का उत्तर देती है कि एक, और घनीभूत वायु नाना प्रकार के शब्दों के रूप में कैसे परिणत

होता है। उत्तर यह है कि "(प्रयत्नरूप) कारण की सामर्थ्य से वेग और घनत्व के धर्म से युक्त उस वायु के (तस्य वायोः) सघन रूप (सारवत्योऽपि मूर्तयः) भी तालु आदि स्थानों में संनिपतित होकर (अर्थात् टकराकर) क च ट त प आदि के रूप में विभक्त हो जाते हैं।" इस प्रकार एक घनीभूत वायु का अनेक शब्दों के रूप में परिणाम उपपन्न हो जाता है।

वामदेव आचार्य की टीका के अनुसार यहाँ प्रश्न यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वायु कण्ठ का विचार कैसे कर सकता है। इसका उत्तर इस कारिका में दिया गया है। इस प्रकार वृषभदेव की व्याख्या भी उनके मत में उपयुक्त है। वे पं. रघुनाथ शर्मा की व्याख्या से सहमत नहीं क्योंकि वायु रूपरहित है, अतः उसकी मूर्तियाँ अर्थात् रूप होना संभव नहीं।

इन दोनों कारिकाओं का तात्पर्य मूलतः यही है कि वेणु, शंख आदि में भी, और भाषागत उच्चारण में भी, वायु का संयोग और विभाग ही शब्द को उत्पन्न करने का प्रधान कारण है।

110. अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः।।

अनुवाद : सभी शक्तियों से संपन्न होने के कारण विभाग और संसर्ग की वृत्ति वाले अणु छाया, धूप, अन्धकार और शब्द के रूप में परिणत होते हैं।

111. स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः।।

अनुवाद : अपनी शक्ति के अभिव्यक्त होने की स्थिति में (वक्ता. के) प्रयत्न द्वारा प्रेरित हुए (आन्दोलित हुए) शब्द नामक परमाणु बादलों की भाँति एकत्र होते हैं।

व्याख्या (110-111): ये दोनों कारिकाएँ अणु से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले चिन्तकों का मत प्रस्तुत करती हैं। ये अणु वैशेषिक दर्शन में बतलाए गए अणुओं से भिन्न हैं। वैशेषिकों के मत में शब्द द्रव्य नहीं है, अपितु आकाश का गुण है। अतः वे शब्द को परमाणु नहीं मानते।

हम पहले (कारिका 107 की व्याख्या में) कह चुके हैं कि नागेश के अनुसार ये परमाणु सांख्य में स्वीकृत पञ्चतन्मात्रों में से हैं। पं. रघुनाथ शर्मा का भी यही मत है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक ये पञ्चतन्मात्र सांख्य में प्रकृति और विकृति दोनों कहे

गए हैं (महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। –सांख्यकारिका, 3)। ये मूल प्रकृति से उद्भूत होने के कारण विकृति हैं और पञ्चमहाभूतों के मूल घटक होने के कारण प्रकृति हैं। इनमें शब्द-तन्मात्र स्थूल शब्द के कारणभूत हैं। ये तन्मात्र अथवा परमाणु भेद और संसर्ग की वृत्ति वाले हैं, अर्थात् विभक्त और संयुक्त होकर व्यवहार करते हैं। जब ये विभक्त होते हैं तो परमाणुरूप में रहते हैं और संयुक्त होने पर स्थूल पदार्थों के रूप में परिणत होते हैं। पं. रघुनाथ शर्मा के अनुसार 'सर्वशक्तित्वात्' का आशय यह है कि अपनी अपनी जाति के कार्यों को उत्पन्न करने में सर्वशक्तिमान् होने के कारण ये परमाणु शब्द के रूप में परिणत होते हैं। रघुनाथ शर्मा के अनुसार रूप के परमाणु छाया, प्रकाश अथवा तमस् के रूप में और शब्द के परमाणु स्थूल शब्द के रूप में परिणत होते हैं।

पं. सूर्यनारायण शुक्ल और गौरीनाथ शास्त्री (1992: पृ. 47) के अनुसार यह मत जैनों का है किन्तु वीरेन्द्र शर्मा (1977: पृ. 13, 17) की दृष्टि में यह जैनों का मत हो ही नहीं सकता क्योंकि जैन 'शब्द' नाम के परमाणुओं को अलग से नहीं मानते। जैन दार्शनिक की दृष्टि में सभी परमाणु एक ही प्रकार के हैं और संघातभेद के कारण वे भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इस कारण वीरेन्द्र शर्मा मानते हैं कि यह मत किसी शिक्षाशास्त्र का मत है। इस संपूर्ण कथन के अन्त में वृषभदेव के कथन से भी स्पष्ट है कि अभी तक शिक्षाकारों के मतभेद का ही कथन चल रहा था– "एवं शिक्षाकाराभिमतभेदमाचख्याय शब्दस्य माहात्म्यं कथयति।" (पद्धति, पृ.180)

किन्तु हूबेन (1994: पृ. 8-11)[1], की दृष्टि में यह जैनों का ही मत है। कारिका 107 में बतलाया गया था कि परमाणु शब्द बन जाते हैं। वे पहले से शब्द नहीं हैं किन्तु अपनी शक्ति के कारण एकत्र होने पर उनका समुदाय शब्द कहलाने लगता है, मात्र यही बात प्रस्तुत कारिका में कही गई है। इसलिए हूबेन के अनुसार यहाँ दूसरी कारिका (कारिका 111) का अनुवाद इस प्रकार होना चाहिए –

"अपनी शक्ति के अभिव्यक्त होने पर (वक्ता के) प्रयत्न द्वारा प्रेरित परमाणु बादलों की भाँति एकत्र होते हैं और शब्द कहलाते हैं।"

---

[1] Houben, J.E.M. 1994: "Bhartrhari's familarity with Jainism", *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute* 75:1-24.

हूबेन ने इस प्रसंग में तत्त्वार्थसूत्र (5.23-25) को भी उद्धृत किया है जो पूर्वोक्त प्रथम कारिका (कारिका 110) से मेल खाता है – "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, शब्दबन्धसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च, अणवः स्कन्धाश्च।" अर्थात्, "पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं। वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं। वे परमाणुरूप और स्कन्धरूप हैं।" हूबेन का यह भी कहना है कि जिस प्रकार जैनों ने अपने व्याकरण लिखे थे, संभव है उसी प्रकार उनके अपने शिक्षाग्रन्थ भी हों और यह मत किसी जैन शिक्षाकार का हो।

एक ही जाति के होने पर भी ये अणु अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण नानाजातीय परिणामों को उत्पन्न करते हैं। छाया, आतप और तमस् के रूप में अणुओं के परिणत होने की बात संभवतः इसी सर्वशक्तिमत्ता को दिखलाने के लिए की गई है, अर्थात् यह दिखलाने के लिए कि ये अणु परस्पर विरुद्ध परिणामों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। यह भी संभव है कि यह केवल उपलक्षण मात्र हों अर्थात् जिस प्रकार तमस्, छाया और आतप अणुओं के परिणाम हैं उसी प्रकार शब्द आदि भी अणुओं के परिणाम हैं। तमस् प्रकाश का विरोधी है जबकि छाया प्रकाश पर आवरण आने के कारण होती है। आतप सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश है जबकि चन्द्रमा आदि का शीतल प्रकाश उद्योत कहलाता है। जिस प्रकार आकाश में बिखरे हुए मेघ वर्षा के समय एकत्र होकर घनीभूत हो जाते हैं उसी प्रकार वक्ता के यत्न द्वारा प्रेरित परमाणु घनीभूत होकर शब्दरूप में परिणत होते हैं।

112. अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।।

अनुवाद : सूक्ष्म शब्दस्वरूप में स्थित, अन्तर में रहने वाला यह ज्ञाता अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द के रूप में विवृत्त होता है।

व्याख्या : यह मत भी संभवतः किसी शिक्षाग्रन्थ से उद्धृत है किन्तु यह स्पष्ट है कि वैयाकरण की इसके साथ सहमति है। व्यक्त शब्द को वागात्मा का विवर्त कहना भी यही सूचित करता है। वृत्ति में उद्धृत पाणिनीय शिक्षा के मत से भी इसकी प्रक्रिया मेल खाती है। 'आख्यातोपयोगे' (पाणिनिसूत्र 1.4.29) के भाष्य 'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' पर टीका करते हुए कैयट कहते हैं कि भाष्यकार यहाँ ज्ञान की शब्दरूप में परिणति मान रहे हैं (ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य)। कैयट ने इस प्रसंग में वा.प., 1.107 को भी उद्धृत किया है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार बाह्य रूप में जो हमें सुनाई पड़ता है, केवल वही शब्द नहीं है अपितु हमारे भीतर स्थित ज्ञान ही वस्तुतः शब्दस्वरूप है। तृतीय काण्ड में सम्बन्धसमुद्देश के आरम्भ में ही भर्तृहरि कहते हैं कि व्यक्त शब्दों से वक्ता का ज्ञान, बाह्य अर्थ और स्वरूप, तीनों की प्रतीति होती है। वक्ता के ज्ञान के रूप में स्थित यह शब्द आभ्यन्तर स्फोट है जो शब्दतत्त्व में स्थित है और यही बाह्य शब्दों के रूप में व्यक्त होता है। वृषभदेव कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञाता वस्तुतः एक ही हैं – ज्ञानात्मकेऽपि तस्मिन् ग्रहीतृत्वव्यवहारोऽस्ति (पद्धति, पृ. 174)। इसीलिए यहाँ ज्ञान न कहकर 'ज्ञाता' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह ज्ञान शब्दात्मक ही है और इसीलिए व्यक्त शब्दरूपों में परिणत होता है। वा.प., 1.1 की वृत्ति में भी कहा गया है कि आन्तर चैतन्य में संनिविष्ट की अभिव्यक्ति अन्य जनों को संप्रेषित करने के लिए होती है – प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसंनिवेशितस्य परसंबोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते (वृत्ति, पृ. 7)। इसलिए ऐसा लगता है कि उपाधियुक्त चैतन्य यहाँ ज्ञातृपद से अभिहित है जो सूक्ष्म, अर्थात् सभी भेदों से रहित, होने के कारण अतीन्द्रिय शब्दतत्त्व में स्थित है। इस रूप में ज्ञाता ज्ञान से पृथक् नहीं है और स्थूल रूप में अभिव्यक्त होने के लिए व्यक्त शब्दों के रूप में परिणत होता है।

नागेश (महाभाष्य, 1.4.29 पर उद्योत टीका) के अनुसार यहाँ ज्ञाता का अर्थ वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण है। पं. रघुनाथ शर्मा कहते हैं कि मन का वृत्ति नामक परिणाम ज्ञान है और उस ज्ञान का आश्रय होने के कारण मन को यहाँ ज्ञाता कहा गया है।

द्रव्येश झा के संस्करण में "अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्", यह पाठ मिलता है जिसका अर्थ होगा – यह आन्तर ज्ञान, जो सूक्ष्मशब्दरूप से (अन्तःकरण में) विद्यमान है, अपने रूप को प्रकट करने के लिए (स्थूल) शब्द हो जाता है।

113. स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते।।

अनुवाद : वह (अन्तःस्थित ज्ञाता) मन का रूप प्राप्त कर शरीर के भीतर की अग्नि द्वारा परिपाक को प्राप्त होकर प्राणवायु में प्रविष्ट होता है और तब वह प्राणवायु ऊपर की ओर उठता है।

114. अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते।।

अनुवाद : प्राणवायु, जो अन्तःकरण-तत्त्व का आश्रय बन चुका है, उस (मन) के धर्म से युक्त होकर (भीतरी) अग्नि द्वारा विवृत्त होता है, अर्थात् बाह्य शब्दों के रूप में प्रकट होता है।

115. विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते।।

अनुवाद : पृथक् पृथक् श्रुतियों के रूप में अपनी ग्रन्थियों का विभाजन करता हुआ प्राणवायु वर्णों को अभिव्यक्त कर उन्हीं में विलीन हो जाता है।

व्याख्या (113-115): शब्द के रूप में ज्ञान की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया इन कारिकाओं में बतलाई गई है। अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दतत्त्व मन का रूप धारण करता है क्योंकि मन ही विषयों का परिच्छेद करता है। वृषभ के अनुसार 'पाक' शब्द (कारिका 113) का अर्थ है – एक प्रकार का अतिशय जो विषयों को ग्रहण कर मन की सामर्थ्य को सूचित करता है। इस प्रकार संहृतक्रम ज्ञान सक्रम होकर अभिव्यक्त होता है। शरीर के भीतर की ऊष्मा से वह उस पाक को प्राप्त करता है और फिर प्राणवायु के साथ एकाकार हो जाता है। मन में निष्ठ प्रयत्न द्वारा वह प्राणवायु ऊपर की ओर प्रेरित होता है। अब वह वायु अन्तःकरण-तत्त्व का आश्रय बन चुका है। अतः अन्तःकरण के धर्म से युक्त होने के कारण वह मन द्वारा चयन किये गये शब्दों को आकार देने में समर्थ होता है। अन्तःकरण शब्दरूप है क्योंकि शब्दरूप में स्थित ज्ञाता ने अन्तःकरण का रूप धारण किया है। अन्तःकरण के धर्म से युक्त हुए बिना वह निरर्थक ध्वनियों को भले ही उत्पन्न कर ले, व्यक्त वर्णों को आकार नहीं दे सकता। वायु को अन्तःकरण के धर्म से समाविष्ट कहने का तात्पर्य यह है कि वह मात्र जड़ वायु नहीं है अपितु चेतन के धर्मों से युक्त है। अतः शब्दतत्त्व की श्रुतिशक्ति और अर्थशक्ति (अक्रमे तु वागात्मनि श्रुत्यर्थशक्ती संसृज्येते –वृत्ति, पृ. 102) से युक्त होकर वह शब्दरूप धारण करता है और आन्तरिक अग्नि अर्थात् विवक्षाजनित प्रयत्न द्वारा विभिन्न वर्णों, पदों और वाक्यों के रूप में प्रकट होता है।

वृषभदेव की व्याख्या से प्रतीत होता है कि वह 'तेजसैव' के स्थान पर 'तेजसेव' (तेजसा इव) पाठ मानते हैं। वे इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ईंधन तेज का आश्रय बनने पर अपने ईंधन-स्वरूप को त्याग कर तेजोरूप हो जाता है उसी प्रकार वायु मन का आश्रय बनने पर मनोरूप हो जाता है।

इस प्रकार ज्ञाता अथवा ज्ञान मनोरूप हो जाता है और मन प्राणवायु के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। तब वह प्राणवायु, जो एक है, अपनी ग्रन्थियों का विभाजन कर लेता है और इस प्रकार एक शब्दतत्त्व विभिन्न वर्णों के रूप में अभिव्यक्त होता है और उन्हीं वर्णों में लीन हो जाता है, अर्थात् उसका पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। पं. वेदानन्द झा (द्रव्येश झा का संस्करण) यहाँ एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। जैसे घड़ा बन जाने पर मिट्टी का पिण्ड घड़े के रूप में रहता है वैसे ही प्राणवायु स्वयं पृथक् न रहकर वर्णरूप हो जाता है। पं. रघुनाथ शर्मा के अनुसार ग्रन्थि से तात्पर्य अवयवों से है। विभिन्न वर्णों को अभिव्यक्त करने के लिए वायु अपने आपको अनेक अवयवों में विभक्त कर लेता है।

यहाँ प्रस्तुत प्रक्रिया पाणिनीय शिक्षा में बतलाई गई प्रक्रिया से मिलती जुलती है जिसका अंश वृत्ति में भी "आचार्यः खल्वप्याह" कह कर उद्धृत किया गया है। वह प्रक्रिया इस प्रकार है : आत्मा बुद्धि से अर्थों का पर्यालोचन कर उनके कथन की इच्छा से मन को नियुक्त करता है। मन शरीर-स्थित अग्नि को प्रज्वलित करता है और वह शरीर-स्थित अग्नि वायु को प्रेरित करता है। वायु ऊपर उठकर मूर्धा से टकराता है और फिर मुख में उच्चारण-स्थानों के संयोग से वर्णों को उत्पन्न करता है–

आत्मा बुद्ध्या समर्थ्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।। पाणिनीय शिक्षा – 6, 9

116. अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद्वायुरिव स स्वनिमित्तात् प्रचीयते।।

अनुवाद : सतत वर्तमान जो शब्द सूक्ष्मता के कारण उपलब्ध नहीं होता वह पंखे से वृद्धि को प्राप्त वायु की भाँति अपने निमित्तों द्वारा स्थूलता को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या : परमाणु से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले पक्ष में ही यह एक और मत प्रतीत होता है। इस मत के अनुसार शब्द के परमाणु सदैव सर्वत्र विद्यमान हैं। इसीलिए शब्द को यहाँ अजस्रवृत्ति कहा गया है। वृत्ति में की गई व्याख्या के अनुसार मूर्त पदार्थों के भीतर और बाहर ध्वनि सर्वत्र विद्यमान है। यदि ऐसा है तो शब्द की उपलब्धि निरन्तर क्यों नहीं होती? इसके उत्तर में कहते हैं कि अपनी सूक्ष्मता के कारण शब्द सदा सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता। जिस प्रकार वायु के सूक्ष्म परमाणु सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी पंखे के चलने से सक्रिय

होकर एकत्र हो जाते हैं और उनके स्पर्श की अनुभूति होने लगती है, उसी प्रकार ध्वनि भी अपने निमित्तों अर्थात् प्रयत्न और स्थानों के अभिघात से घनीभूत होकर स्थूल रूप को प्राप्त करती है और कान तक पहुँचती है, और उसका संस्कार भी करती है जिससे वह ध्वनि को ग्रहण कर सके। कारिका में 'प्रचीयते' कहने का यही तात्पर्य है। स्थूल रूप प्राप्त कर उस ध्वनि की प्रतीति श्रोता को स्पष्टतः होने लगती है। अतः कुछ संस्करणों में 'प्रतीयते' पाठ भी मिलता है।

परमाणु से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले जिस पक्ष की चर्चा पहले की गई थी उससे इस पक्ष का भेद, वृषभदेव के अनुसार, यह है कि इस पक्ष में शब्द अथवा ध्वनि की उपस्थिति मात्र शरीर के भीतर न होकर सभी प्राणियों एवं पदार्थों के भीतर और बाहर है।

117. तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते।।

अनुवाद : उस (शब्द) की जो शक्ति प्राण में है एवं जो बुद्धि में अवस्थित है वह उच्चारण-स्थानों में विभिन्न रूपों में व्यक्त होती हुई भेद को प्राप्त होती है।

व्याख्या : शब्द की निष्पत्ति के विषय में पिछली कारिका से भिन्न एक अन्य पक्ष यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वृत्ति एवं पद्धति में शब्द-निष्पत्ति की इस प्रक्रिया को कुछ विस्तार से बतलाया गया है। शब्द जब बाह्य आकार लेता है तो स्थान और करणों की भूमिका महत्त्वपूर्ण दिखलाई पड़ती है किन्तु उससे पूर्व शब्द का अधिष्ठान बुद्धि और प्राण में है। वक्ता जब अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता है तो बुद्धि में शब्दों का चयन करता है। बुद्धि में शब्दों का यह आकार व्यक्त शब्दों की उत्पत्ति में समर्थ है, अतः इसे बुद्धि में स्थित शक्ति कहा गया है। बुद्धि इस आकार को प्राण में संनिविष्ट करती है और इस प्रकार शब्द का अधिष्ठान प्राण में होता है। यदि बुद्धि इस विशिष्ट शब्दाकार को प्राण में अर्पित न करे तो प्राण केवल अव्यक्त ध्वनि को उत्पन्न कर सकेगा। यदि प्राणशक्ति का सहयोग न हो तो बुद्धिशक्ति बाह्य शब्द के रूप में अभिव्यक्त न हो सकेगी। अतः बुद्धि और प्राण दोनों की संसृष्ट शक्ति से शब्द निष्पन्न होता है। बुद्धिशक्ति प्राण के भीतर प्रविष्ट होकर उसे प्रेरित करती है। किन्तु प्राण में शब्द अक्रम है। उच्चारण-स्थानों एवं प्रयत्न के माध्यम से वह क्रम प्राप्त करता है। बुद्धि द्वारा प्रेरित प्राण अग्नि की ज्वाला के समान ऊपर उठता है और विभिन्न वर्णों से संबद्ध प्रयत्न का अनुगमन करता हुआ विशिष्ट स्थानों पर अभिघात करके

विशिष्ट वर्णों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार व्यवहार में आने वाले शब्द की उत्पत्ति होती है। अतः तालु आदि स्थानों में शब्द का तीसरा अधिष्ठान है। प्राणवायु में शब्द का यह भेद स्थान और प्रयत्न के भेद से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार वट का बीज अंकुर आदि के क्रम में ही वृक्ष बनता है उसी प्रकार प्राणवायु भी वर्ण आदि भेदों के क्रम से ही अन्तर में स्थित वाचक शब्द का ग्रहण कराता है। इस प्रकार एक और अक्रम शब्द को प्राणवायु भेद की प्रतीति से अनुरञ्जित कर देता है, वैसे ही जैसे गुलाब का लाल रंग स्वच्छ स्फटिक मणि को लाल रंग की प्रतीति से युक्त कर देता है। इसीलिए मूल में 'विवर्तमाना' शब्द का प्रयोग किया गया है।

भर्तृहरि ने अन्यत्र भी बुद्धिस्थ शब्द और श्रवणीय शब्द की चर्चा की है (वा.प.,1. 46-47)। यहाँ प्रस्तुत मत से मिलती जुलती प्रक्रिया की चर्चा द्वितीय काण्ड (वा.प., 2.19) की वृत्ति में भी मिलती है: "संसृष्टशक्तयश्च क्रमसंहारेण समाविष्टवाचां प्रयोक्तृणां शब्दा बुद्धौ प्रयत्नेन प्राणे करणेषु च क्रमवृत्तितामनुभूय प्रतिपत्तृष्वपि क्रमप्रत्यस्तमयेनैव समावेशं प्रतिपद्यन्ते।" इसलिए ऐसा लगता है कि अन्तर में स्थित शब्द से बाह्य शब्द की निष्पत्ति मानने वाले पक्ष (कारिका 112 एवं 117 आदि) भर्तृहरि के दर्शन के अनुकूल हैं।

118. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते।।

अनुवाद : इस विश्व की कारणात्मक शक्ति शब्दों में ही आश्रित है जिसके माध्यम से यह प्रतिभा-स्वरूप (ब्रह्म) भेदरूप में प्रतीत होता है।

व्याख्या : वाक्यपदीय के आरम्भ में शब्द की जिस महिमा का उल्लेख भर्तृहरि ने किया था, उसी का विस्तार पुनः यहाँ किया जा रहा है। चिन्तन और व्यवहार में शब्द की व्यापकता और शक्तिमत्ता की बात करके भर्तृहरि ब्रह्म को शब्दरूप मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हैं। वृत्ति में बतलाया गया है कि सृष्टि से पूर्व गो, घट आदि पदार्थ-जातियाँ ओर गोशब्द और घटशब्द आदि शब्दजातियाँ सूक्ष्म शब्दतत्त्व में ही आश्रित रहती हैं। इस स्थिति में न तो वे ज्ञान का विषय बन सकती हैं, न व्यवहार का। अतः उनका यह आश्रय अर्थात् वाक्तत्त्व ही परिणत होकर वाच्य और वाचक के रूप में इन सभी जातियों को अभिव्यक्त होने का अवसर देता है। इस प्रकार वह प्रतिभास्वरूप तत्त्व शब्दों के माध्यम से भेदरूप में स्वयं को प्रदर्शित करता है। प्रलय में ये सभी जातियाँ उसी सूक्ष्म वाक्तत्त्व में विलीन हो

जाती हैं। स्वप्न में जिस प्रकार द्रष्टा अपने आपको ही विभिन्न पदार्थों के रूप में देखता है और जागने पर वे सब पदार्थ बाह्य रूप में प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार शब्दतत्त्व से पदार्थों के प्रकट होने और पुनः उसी में लीन होने का यह क्रम प्रलय से सर्ग और सर्ग से प्रलय तक स्वप्न-प्रबोध वृत्ति से चलता रहता है। इस प्रकार शब्द ही भोक्ता–भोग्य अथवा वाचक–वाच्य आदि रूपों में प्रतीत होता है। शब्द की शक्ति ही उसे विविधता प्रदान करती है।

यहाँ हमने 'प्रतिभात्मा' शब्द को प्रतिभास्वरूप शब्दतत्त्व के अर्थ में लेकर अनुवाद किया है। वाक्यार्थ के रूप में प्रतिभा को एक अन्तःप्रज्ञात्मक स्फुरण कहा गया है। वा.प., 1. 13 की वृत्ति में प्रतिभा को सभी वाग्विकारों की प्रकृति कहा है। वहीं पर वृषभदेव इसे समस्त शब्दार्थ की कारणभूत बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार सृष्टि की ओर उन्मुख शब्दब्रह्म की अवस्था को वे प्रतिभा कहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। पराप्रकृति इससे ऊपर की अवस्था है। तृतीय काण्ड पर अपनी टीका के आरम्भ में हेलाराज आनन्दमय प्रतिभास्वरूप की स्तुति करते हैं। इस प्रकार प्रतिभात्मा (प्रतिभा आत्मा – स्वरूपं – यस्य सः) का अर्थ शब्दतत्त्व हो सकता है। वा.प., 1.117 की वृत्ति की व्याख्या में वृषभदेव ने इसका यही अर्थ किया है – प्रतिभाख्ये शब्दतत्त्वे... (पद्धति, पृ. 180)।

किन्तु प्रस्तुत कारिका में वृषभ प्रतिभात्मा का एक अन्य अर्थ लेते हुए उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार देते हैं : "जिस (विशिष्ट शक्ति से युक्त शब्द) के कारण गो आदि भिन्न भिन्न पदार्थों के विषय में प्रतिभा उत्पन्न होती है।" सम्भवतः इसी अर्थ का अनुसरण करते हुए अय्यर प्रतिभात्मा का अर्थ बुद्धि लेते हैं और अपने अंग्रेजी अनुवाद में उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार करते हैं : इस ('शब्द की शक्ति' नामक) नेत्र के माध्यम से बुद्धि की इस विविधता का ग्रहण होता है (It is through that eye that all this diversity of understanding is perceived)। पं. रघुनाथ शर्मा भी प्रतिभात्मा को 'बुद्धिविषयक' (प्रतिभायां बुद्धौ आत्मा स्वरूपं यस्य। बुद्धिविषयः सन् इति यावत्) के अर्थ में लेते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार उत्तरार्ध का अनुवाद इस प्रकार होगा : जिसके (शब्दशक्ति के) द्वारा प्रकाशित होकर यह (जगत्) बुद्धि में भेदरूप में प्रतिभासित होता है।

119. *षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।*
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निःश्रिताः।।

यहाँ हमने 'प्रतिभात्मा' शब्द को प्रतिभास्वरूप शब्दतत्त्व के अर्थ में लेकर अनुवाद किया है। वाक्यार्थ के रूप में प्रतिभा को एक अन्तःप्रज्ञात्मक स्फुरण कहा गया है। वा.प., 1.13 की वृत्ति में प्रतिभा को सभी वाग्विकारों की प्रकृति कहा है। वहीं पर वृषभदेव इसे समस्त शब्दार्थ की कारणभूत बुद्धि कहते हैं। इस प्रकार सृष्टि की ओर उन्मुख शब्दब्रह्म की अवस्था को वे प्रतिभा कहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। पराप्रकृति इससे ऊपर की अवस्था है। तृतीय काण्ड पर अपनी टीका के आरम्भ में हेलाराज आनन्दमय प्रतिभास्वरूप की स्तुति करते हैं। इस प्रकार प्रतिभात्मा (प्रतिभा आत्मा – स्वरूपं यस्य सः) का अर्थ शब्दतत्त्व हो सकता है। वा.प., 1.117 की वृत्ति की व्याख्या में वृषभदेव ने इसका यही अर्थ किया है – प्रतिभाख्ये शब्दतत्त्वे... (पद्धति, पृ. 180)।

किन्तु प्रस्तुत कारिका में वृषभ प्रतिभात्मा का एक अन्य अर्थ लेते हुए उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार देते हैं : "जिस (विशिष्ट शक्ति से युक्त शब्द) के कारण गो आदि भिन्न भिन्न पदार्थों के विषय में प्रतिभा उत्पन्न होती है।" सम्भवतः इसी अर्थ का अनुसरण करते हुए अय्यर प्रतिभात्मा का अर्थ बुद्धि लेते हैं और अपने अंग्रेजी अनुवाद में उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार करते हैं : इस ('शब्द की शक्ति' नामक) नेत्र के माध्यम से बुद्धि की इस विविधता का ग्रहण होता है (It is through that eye that all this diversity of understanding is perceived)। पं. रघुनाथ शर्मा भी प्रतिभात्मा को 'बुद्धिविषयक' (प्रतिभायां बुद्धौ आत्मा स्वरूपं यस्य। बुद्धिविषयः सन् इति यावत्) के अर्थ में लेते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार उत्तरार्ध का अनुवाद इस प्रकार होगा : जिसके (शब्दशक्ति के) द्वारा प्रकाशित होकर यह (जगत्) बुद्धि में भेदरूप में प्रतिभासित होता है।

119. षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निःश्रिताः।।

अनुवाद : षड्ज आदि (संगीत-श्रुतियों) का भेद शब्द द्वारा व्याख्यात होकर ही गृहीत होता है, अतः पदार्थों के सभी प्रकार के भेद शब्द की शक्तियों पर आश्रित हैं।

व्याख्या : इस कारिका में इस बात पर बल दिया गया है कि किसी शब्दरूप से जुड़े बिना कोई भी ज्ञान हमारे व्यवहार का विषय नहीं बनता। किसी पदार्थ का भेद कराने वाली बुद्धि शब्द के साथ जुड़ी हुई है और शब्द का आकार ग्रहण कर चुकी है। वह शब्द भी पदार्थ के साथ एकाकार हो चुका है। इस प्रकार शब्द के साथ तादात्म्य प्राप्त कर बुद्धि अर्थ को ग्रहण करती है और वह शब्दात्मक बुद्धि ही अर्थ को प्रकाशित करती है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार (सा, रे, ग) आदि स्वरों के भेद का ग्रहण शब्द की सहायता के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार अत्यन्त शास्त्रीय भेदों को समझने में भी शब्द-संज्ञाएँ ही हमारी सहायक होती हैं। यदि 'सा, रे, ग, म' आदि के लिए भिन्न भिन्न शब्द न हों तो मात्र सुनकर उनके सूक्ष्म भेदों को पकड़ पाना संभव न होगा।

ग्वाले और गड़रिये भी अपने पशुओं में भेद करने के लिए उनके अलग अलग नाम रख देते हैं। पशु भी उन संबोधनों पर प्रतिक्रिया करते देखे जाते हैं। इस प्रकार समाख्येय अथवा असमाख्येय, स्थूल अथवा सूक्ष्म, सभी भेदों के ग्रहण कराने में शब्द की सामर्थ्य दिखलाई देती है। अतः यह मानना चाहिए कि अर्थगत विविधता शब्द की शक्तियों के अधीन है।

120. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।।

अनुवाद : यह जगत् शब्द का कार्य है, ऐसा वेद के ज्ञाता मानते हैं; सर्ग के आदि में यह विश्व वेदों (अर्थात् शब्दतत्त्व) से ही प्रकट हुआ।

व्याख्या : सभी दार्शनिक कार्य में कारण के धर्मों का समन्वय देखकर कार्य से कारण का अनुमान करते हैं। पदार्थों के विषय में हमारे ज्ञान में शब्द की चेतना अवश्य रहती है। घट-शब्द और घट-अर्थ में तादात्म्य देखा जाता है। शब्द के उच्चारण से वस्तु का रूप हमारी बुद्धि के समक्ष आ जाता है। इसी आधार पर वैयाकरण ने शब्दतत्त्व को नाम-रूपात्मक जगत् का कारण माना है। किन्तु कार्य में कारणधर्म-समन्वय के इस सिद्धान्त को मानने पर भी जगत् के मूल कारण के विषय में दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। कोई परमाणु को कारण मानता है, कोई प्रधान को और कोई शक्तिसमूह को। अतः आगम प्रमाण को सर्वोपरि मानने वाले भर्तृहरि बतलाते हैं कि मूल तत्त्व की शब्दात्मकता का सिद्धान्त मात्र अनुमान प्रमाण पर आधारित परिकल्पना नहीं अपितु इसके पीछे आम्नाय का सुदृढ़ आधार है। वृत्ति में दिये अनेक उद्धरणों में बतलाया है कि सृष्टि शब्द से उद्भूत हुई है। एक मन्त्र के अनुसार (जो वृत्ति के अनुसार ऋग्वेद से है) वाक् ही समस्त लोकों के रूप में उत्पन्न हुई है। जो कुछ अमृत (आकाश आदि) अथवा मर्त्य है वह वाक् ही है। वाक् ही भोक्ता है, वही अनेक प्रकार से बोलती है, वाक् से परे कुछ भी नहीं है –

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह।।

कठ-उपनिषद् में ओम् को ब्रह्म एवं परमतत्त्व कहा है –

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।

माण्डूक्य उपनिषद् (1) एवं छान्दोग्य उपनिषद् (2.23.3) में कहा गया है कि 'ओम्' यह अक्षर ही सब कुछ है; जो कुछ भूत, वर्तमान और भावी है; जो त्रिकालातीत है वह भी सब ओंकार है। ओंकार ही यह समस्त विश्व है। बृहदारण्यक उपनिषद् (4.1.2) के अनुसार वाक् ही परब्रह्म है: "वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।" वृत्ति में दिये एक उद्धरण में वैराज पुरुष को ऋक्-यजुः-साममय कहा

गया है। वही लोक है, वही यज्ञ। ऋक्-यजुः-साममय कहने का अर्थ है कि विराट् पुरुष शब्दस्वरूप है–

"स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः। पुरुषो वै लोकः। पुरुषो यज्ञः।"

श्रुति के अतिरिक्त वृत्ति 'पुराकल्प' अर्थात् प्राचीन ग्रन्थों को भी उद्धृत करती है। ऐसे ही एक उद्धरण में कहा गया है कि शब्दस्वरूप (छन्दस्यः) प्रजापति अपने आपको अनेक प्रकार से शब्दों के अंशों के माध्यम से विभक्त करके अपने स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाता है –

विभज्य बहुधात्मानं स छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विवेश तम्।।

भर्तृहरि द्वारा परिणाम और विवर्त (व्यवर्तत) जैसे शब्दों के एक साथ प्रयोग से इस विषय में सन्देह उपस्थित होता है कि भर्तृहरि जगत् को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम मानते हैं अथवा अवास्तविक? ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार परवर्ती दार्शनिक साहित्य में परिणाम और विवर्त की व्याख्या दो परस्पर विरुद्ध अर्थ वाले शब्दों के रूप में की गई है, वह प्रवृत्ति प्राचीनतर साहित्य में नहीं है। उपादान की सत्ता के समान ही जब कार्य की सत्ता हो तो वह विकार अथवा परिणाम है और उपादान की सत्ता से कार्य की सत्ता विषम हो तो वह विवर्त है। दूध का दही बनना परिणाम का प्रसिद्ध उदाहरण है जहाँ दूध की सत्ता भी व्यावहारिक है और दही की भी। किन्तु सर्प में यदि रज्जु दिखलाई पड़ती है तो सर्प तो व्यवहारतः सत् है किन्तु रज्जु की सत्ता मात्र प्रातिभासिक है। अतः यह विवर्त का उदाहरण है (देखें, शुक्ल 1961: 125-26)। किन्तु भवभूति, शान्तरक्षित, शंकर आदि इन शब्दों का प्रयोग अनेक बार इनके परिभाषिक अर्थ में नहीं करते। भवभूति उत्तररामचरित (3.47)में एक ही पद्य में विवर्त और विकार शब्द का प्रयोग लगभग समानार्थक के रूप में करते हैं –

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुदबुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्।।

गौरीनाथ शास्त्री (1992 : पृ. 48-49) का मत है कि इन दोनों शब्दों के अर्थों के भेद से भर्तृहरि परिचित नहीं थे। यदि यह मानें कि वृत्ति स्वयं भर्तृहरि द्वारा रचित है (देखें, प्रारम्भ में दी गयी हमारी भूमिका), तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि के सिद्धान्त की व्याख्या विवर्तवाद के प्रकाश में की जानी चाहिए (देखें, वृत्ति, पृ. 8-9; प्रथम कारिका की हमारी व्याख्या भी देखें)। तृतीय काण्ड पर अपनी टीका में हेलाराज कहते हैं कि भर्तृहरि के दर्शन में 'विकार' शब्द विवर्त का ही पर्याय है – न च परिणतिदर्शनाभिप्रायेणायं विकारशब्दः अनित्यत्वप्रसङ्गात् अपितु विवर्तपर्यायोऽयम् (हेलाराज – वा.प., 3.1.36 पर)। अन्यत्र भी वे भर्तृहरि के दर्शन को स्पष्टतः विवर्तपक्ष कहते हैं – चिच्छक्तिरपरिणामिनीति विकाराभावान्नेदं सांख्यनयवत्परिणामदर्शनम्, अपितु विर्वतपक्षः (हेलाराज –

वा.प., 3.2.15 पर)। किन्तु गौरीनाथ शास्त्री (1992:50) का मत है कि "भर्तृहरि के वे अनुयायी, जो शंकर के दार्शनिक चिन्तन से अत्यन्त प्रभावित थे, ऐसा मानने लगे कि दार्शनिक रूप से उनके आचार्य विवर्तवाद की ओर उन्मुख थे।"

भर्तृहरि के दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भर्तृहरि परिणामवादी नहीं थे। भर्तृहरि के अनुसार अन्तिम रूप से पराप्रकृति अर्थात ब्रह्म ही सत्य है। समस्त आकृतियों के समाप्त होने पर अन्त में जो रहता है वही सत्य है, वही नित्य है, वही सभी शब्दों का वाच्य है वह भेदों से रहित शब्दतत्त्व है (वा.प., 3.2.11)। भर्तृहरि इस सन्दर्भ में सुवर्ण और उसके आभूषणों का उदाहरण देते हैं। जिस प्रकार कुण्डल आदि आभूषणों में विकारों के नष्ट हो जाने पर सुवर्ण ही सत्य है उसी प्रकार सभी पदार्थों के तिरोहित हो जाने पर जो परा प्रकृति रहती है, वही सत्य है–

विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम्।। वा.प., 3.2.15.

इस प्रकार यद्यपि भर्तृहरि जगत् को रज्जुसर्प की भाँति मिथ्या नहीं कहते तथापि एकमात्र ब्रह्म ही उनके लिए परमार्थिक सत्य है और वह ब्रह्म शब्दरूप है। अतः भर्तृहरि पूर्ण रूप से अद्वैतवादी हैं।

गौरीनाथ शास्त्री के मत में (1992:56), "यदि जगत् की सत्यता भर्तृहरि को स्वीकार्य है और साथ ही यदि वे शब्दब्रह्म से जगत् की अभिन्नता को भी मानते हैं तो ...... भर्तृहरि का सिद्धान्त (कश्मीर के) त्रिक आचार्यों द्वारा स्वीकृत आभासवाद का पुरोगामी है।" किन्तु वीरेन्द्र शर्मा (1977 : नवम अध्याय) की दृष्टि में शिवाद्वैत और शब्दाद्वैत में मौलिक भेद हैं और भर्तृहरि का अद्वैतवाद शांकर वेदान्त के समकक्ष ही है। अन्तर यही है कि भर्तृहरि परमतत्त्व को शब्दात्मक मानते हैं जबकि शंकर इसे स्वीकार नहीं करते (वीरेन्द्र शर्मा 1977 : पृ. 396-400)।

वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)

मिथिलेश चतुर्वेदी
संस्कृत विभाग, दिल्ली वि.वि.,
दिल्ली – 110007

पाठ 10
(कारिका 121-121)

*121. इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
या पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते।।*

अनुवादः संसार में समस्त कर्तव्यों की चेतना शब्द के अधीन है। पूर्वजन्म से प्राप्त संस्कारों से युक्त शिशु भी इसका आश्रय लेता है।

व्याख्याः समस्त मानवीय व्यवहार पर शब्द का व्यापक प्रभाव इस कारिका द्वारा प्रदर्शित किया गया है। 'इदं कर्तव्यम् (इदं न कर्तव्यम्) इतिकर्तव्यम्; तस्य भावः इतिकर्तव्यता,' अर्थात् अमुक कार्य करना है (अमुक नहीं करना) इसका बोध इतिकर्तव्यता है। शब्द द्वारा ही कर्तव्य का प्रकार निश्चित होता है और उसी के फलस्वरूप प्रवृत्ति-निवृत्ति-विषयक सभी क्रियाएँ संभव होती हैं। किसी क्रिया को किस प्रकार किया जाए, इसका निश्चय भी शब्द के माध्यम से होता है। वस्तु अपनी सत्ता मात्र से किसी व्यवहार को प्रेरित नहीं करती अपितु शब्द के माध्यम से ही हमारे अनुभव में आती है। दूसरी ओर सर्वथा असत् वस्तु भी शब्द से युक्त होकर मानो हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाती है। प्रायः कथावाचक अतीत की घटना को भी शब्दों में बाँधकर हमारे समक्ष जैसे प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते हैं।

प्रश्न उठता है कि फिर शिशुओं की क्रियाएँ किस प्रकार संभव होती हैं। बच्चा रोता है, हँसता है, हाथ-पाँव चलाता है, दूध पीता है, भूख-प्यास का अनुभव करता है। उसकी क्रियाओं में तो शब्द का अनुगम नहीं देखा जाता। शिशु ने अभी तक भाषा सीखी ही नहीं है। इसके उत्तर में भर्तृहरि कहते हैं कि शिशु में भी शब्द का संस्कार विद्यमान है जो उसे अपने पूर्व जन्मों से प्राप्त हुआ है। मानव में ही नहीं अपितु अपनी अपनी जाति के अनुसार सभी शिशुओं में यह संस्कार विद्यमान है। जब वे विभिन्न पदार्थों को देखते हैं तो वह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है। इतना अवश्य है कि शिशु का शब्द अभी स्पष्ट नहीं हुआ है,

अपितु अनाख्येय है जैसा कि इस कारिका की वृत्ति में कहा है –'बालानामपि ... तासु तास्वर्थक्रियासु अनाख्येयशब्दनिबन्धना प्रतिपत्तिरुत्पद्यते।' आगे चलकर इसी शब्दसंस्कार के कारण शिशु भाषा को ग्रहण करता है, यह भर्तृहरि अगली कारिका में कहेंगे।

122. आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्।।

अनुवाद : वाक्-इन्द्रिय का प्रथम व्यापार, प्राणवायु को ऊपर की ओर प्रेरित करना और उच्चारण-स्थानों पर आघात, यह सब शब्दभावना के बिना संभव नहीं।

व्याख्या : किसी भी क्रिया के विषय में शिशुओं की चेतना भी शब्द से जुड़ी हुई है, यह पिछली कारिका में कह चुके हैं। शिशु को शब्द-विषयक संस्कार उसके पूर्वजन्म से ही प्राप्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो बालक भाषा को ग्रहण कर ही नहीं सकता। भले ही बालक अभी स्थूल शब्दरूपों का प्रयोग नहीं करता फिर भी शब्दों के बोलने की दिशा में उसके प्राथमिक प्रयास ही प्रमाणित करते हैं कि ये प्रयास बालक में निहित शब्दभावना का ही परिणाम हैं। यदि भाषा बालक को सहजात रूप में प्राप्त न हो तो वह प्रथम बार वर्णों के उच्चारण का प्रयास ही न करे। अतः भर्तृहरि का मानना है कि शब्द या भाषा बालक की चेतना का अभिन्न अंग है उसे प्राप्त होने वाली कोई बाह्य एवं नवीन सामर्थ्य नहीं। अमुक अमुक प्रयत्नों से शब्द का उच्चारण होता है अथवा अमुक प्रकार से जिह्वा-संचालन करना चाहिए, ऐसे प्रशिक्षण की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। यह सब स्वतःस्फूर्त प्रतिभा से ही संभव होता है और यह प्रतिभा बालक में निहित अनादि शब्दभावना की परिचायक है। वृषभ कहते हैं कि यदि बालक को वर्णोच्चारण की शिक्षा भी दी जाए तो शब्दार्थसंबन्ध से अपरिचित बालक उस शिक्षा को कैसे ग्रहण करता है? यही मानना चाहिए कि वह शिक्षण शब्दभावना के बीजों को ही व्यापारयुक्त करता है।

'करण-विन्यास' शब्द का प्रयोग भाषा के संदर्भ में वागिन्द्रिय के व्यापार के लिए किया जाता है किन्तु वृषभ इसे अन्तःकरण के व्यापार के अर्थ में भी लेते हैं, जिसके कारण बालक शब्दों के उच्चारण के लिए प्रथम बार प्रयास करता है। पं. द्रव्येश झा इसे श्रोत्रेन्द्रिय के अर्थ में लेते हैं जिसके द्वारा बालक वृद्धजनों को शब्द का व्यवहार करते हुए सुनता है और शब्द का ज्ञान प्राप्त करता है और फिर उसके उच्चारण के लिए प्रयत्न करता है।

123. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

अनुवाद : संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द से जुड़ा हुआ न हो। समस्त ज्ञान शब्द में अनुविद्ध सा भासित होता है।

व्याख्या : इस कारिका में भर्तृहरि कहते हैं कि मानवीय चेतना शब्दतत्त्व पर आधारित है। भर्तृहरि के मत में प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक विचार में शब्द की भूमिका है। प्रत्यक्ष हो या अनुमान, शब्द के बिना वह हमारी पकड़ में नहीं आ सकता। इस बात को वे अनुभव से प्रमाणित करते हैं। जो भी ज्ञान हमारे अनुभव में आता है उसका शब्द के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है। इसीलिए कारिका में 'अनुविद्धमिव' कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान और शब्द अपृथक् रूप में भासित होते हैं। इसीलिए वा.प., 3.3.1 की टीका में हेलाराज कहते हैं कि 'घट' कहने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान, तीनों का ही मिश्रण होता है : "लोलीभूतानि शब्दार्थज्ञानानि घट इत्येवमवगम्यन्ते।"

प्रश्न उठता है कि समस्त ज्ञान में शब्दानुवेध मानने वाले भर्तृहरि क्या निर्विकल्पक ज्ञान को अस्वीकार करेंगे? नैयायिक एवं मीमांसक ने इस मत की आलोचना की है। उनके मत में शब्द और अर्थ के संबन्ध से अपरिचित जनों को शुद्ध पदार्थ का ज्ञान होता है जिसमें शब्द का कोई संस्पर्श नहीं है। संबन्ध को जानने वालों का भी प्रथम ज्ञान निर्विकल्प है और यह निर्विकल्प ज्ञान ही शब्द-विशेष का स्मरण कराता है। जयन्त (न्यायमञ्जरी), वाचस्पति मिश्र (न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका), प्रभाचन्द्र (प्रमेयकमलमार्तण्ड) ने इस कारिका का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि की इस बात के लिए आलोचना की है कि वे समस्त ज्ञान को सविकल्पक मानते हैं। इन आचार्यों के मत में निर्विकल्पक ज्ञान में शब्द की कोई भूमिका नहीं। कुमारिल कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान से पूर्व शुद्ध वस्तु से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान होता है जो शब्दार्थसंबन्ध से अपरिचित बालकों और मूकजनों के ज्ञान के सदृश है –

अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्।। – श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, 112

इस श्लोक पर न्यायरत्नाकर नामक अपनी टीका में पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि कुमारिल का यह वचन उन लोगों के प्रति है जो समस्त ज्ञान को शब्दानुविद्ध मानते हुए

विश्व की कारणात्मिका शक्ति शब्दों में ही निहित है। वास्तव में जो पदार्थ कभी किसी के देखने सुनने या अनुभव में न आया हो, वह ज्ञेय नहीं हो सकता, जो ज्ञेय नहीं वह वाच्य नहीं हो सकता और जो वाच्य नहीं, वह सत्तावान् नहीं हो सकता।

निर्विकल्पक को नहीं मानते, केवल सविकल्पक को ही मानते हैं। स्पष्ट है कि वे भर्तृहरि की प्रस्तुत कारिका के संदर्भ में ही ऐसा कह रहे हैं।

किन्तु भर्तृहरि यहाँ निर्विकल्प ज्ञान का निषेध नहीं करते। जब वे शिशुओं के ज्ञान को भी शब्दभावना से युक्त मानते हैं तो उनका तात्पर्य यही है कि निर्विकल्प ज्ञान में भी सूक्ष्म रूप से शब्द का अनुगम है। यदि ऐसा न होता तो परवर्ती क्षणों में उस ज्ञान से जुड़े हुए शब्द का स्पष्ट ज्ञान भी न होता। भर्तृहरि अगली कारिका में कहेंगे कि ज्ञान में यदि उसकी वाक्‌रूपता न रहे तो स्वयं वह ज्ञान ही प्रकाशित न होगा। ज्ञान के विषय में हमारी चेतना भी शब्द पर आश्रित है। आधुनिक भाषा-दर्शन में यह एक प्रमुख विवेच्य विषय है कि क्या हमारे विचार भाषा से निर्धारित होते हैं या उससे निरपेक्ष हैं। भर्तृहरि यहाँ विचार अथवा ज्ञान की अपेक्षा शब्द की प्रथमता मानते हैं; उनकी दृष्टि में भाषा केवल हमारे ज्ञान अथवा विचार के संप्रेषण का माध्यम भर नहीं है।

शब्दभावना को स्पष्ट करने के लिए वृत्ति में एक उदाहरण दिया गया है (वृत्ति, पृ. 190-91)। कभी कभी स्मृति में जब संस्कार उद्‌बुद्ध होने की ओर उन्मुख होते हैं तो हमें स्मरण होता है कि हमने 'कोई' श्लोक अथवा पद्य सुना था। यद्यपि वह पद्य हमारी स्मृति में स्पष्ट नहीं है तो भी उसकी धुँधली सी रूपरेखा मानस के समक्ष उभरती है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्त शब्दरूपों के न होने पर भी शब्दभावना अपना कार्य करती है।

124. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

अनुवाद : यदि ज्ञान में विद्यमान उसकी शाश्वत शब्दरूपता न रहे तो (ज्ञान का) प्रकाश प्रकाशित नहीं होगा क्योंकि वह शब्दरूपता ही विमर्शात्मक चिन्तन को संभव बनाती है।

व्याख्या : समस्त ज्ञान को शब्दानुविद्ध कहने वाली प्रस्थापना का ही समर्थन भर्तृहरि यहाँ भी कर रहे है। भर्तृहरि की दृष्टि में शब्द ज्ञान का भी प्रकाशक है। शब्दरूप होने के कारण ही ज्ञान अपने विषय को प्रकाशित कर पाता है। हमारे ज्ञान में जो कुछ भी भासित होता है उसे यदि शब्दरूप से पृथक् कर दें तो पाएँगे कि ज्ञान में कुछ भी भासित नहीं होता। इसलिए भर्तृहरि के मत में समस्त ज्ञान (चाहे वह निर्विकल्प हो) किसी न किसी रूप में शब्दमय है। शब्द का अनुवेध ही किसी वस्तु के विषय में हमारे प्रत्यय को अन्य वस्तुओं के प्रत्यय से अलग करता है। वा.प., 1.12 की वृत्ति में तीन प्रकार के प्रकाश की बात कही

जैसे - अग्नि का स्वरूप क्या है?, प्रकाशकत्व! - प्रकाशकत्व बिना अग्नि के नहीं।
अन्तर्यामी जीवात्मा का स्वरूप क्या है? - चैतन्य! चैतन्य के बिना अन्तर्यामी नहीं।
इसी प्रकार - ज्ञान का स्वरूप क्या है? - वाग्रूपता! वाग्रूपता के बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं।

गई है। प्रथम, अग्नि आदि का प्रकाश है; दूसरा, मनुष्यों का आन्तरिक प्रकाश (बुद्धि का प्रकाश) है; तीसरा प्रकाश शब्द का प्रकाश है जो सभी का प्रकाशक है और जिसमें स्थावर व जंगम सभी पदार्थ निबद्ध हैं : "इह त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः। तद्यथा योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च" (वृत्ति, 1. पृ. 43)। इसलिए दण्डी काव्यादर्श में कहते हैं कि यदि शब्द नामक ज्योति संपूर्ण संसार को प्रकाशित न करे तो तीनों लोक गहन अन्धकार में डूब जाएँगे।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

प्रस्तुत कारिका में प्रयुक्त प्रकाश और प्रत्यवमर्श जैसे शब्द कश्मीर शैव दर्शन में भी प्रयुक्त हुए हैं। उत्पलदेव की ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (1.5.14) पर टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में दोनों कारिकाएँ (वा.प.,1.123-124) उद्धृत की हैं। पुनः ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में भी अभिनवगुप्त ने कारिका 123 (1.5.19 पर) और कारिका 124 (1.5.11 पर) उद्धृत की हैं। अय्यर (1969:107-08) और मतिलाल (1990:135-141)[1] ने अभिनवगुप्त की व्याख्या के आधार पर इन अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वृत्ति और पद्धति के साथ साथ इन दोनों के निष्कर्षों की सहायता लेते हुए हम इस कारिका के तात्पर्य को समझने का प्रयास करेंगे।

प्रत्यवमर्श अथवा विमर्श का अर्थ है पहचानना, सचेत होना। ज्ञान जब पदार्थ को प्रकाशित करता है तो विमर्श उसे आकार देता है, उसे दूसरों से पृथक् करता है। किसी भी पदार्थ का ज्ञान हमारे मानस में तब तक जड़ नहीं पकड़ता जब तक उसे अन्य पदार्थों के ज्ञान से पृथक् न कर दिया जाए। शब्द का यह स्वभाव है कि वह पदार्थ को एक नाम देकर उसे दूसरे पदार्थों से पृथक् करता है। इसलिए भर्तृहरि ज्ञान को शब्दरूप कहते हैं। ज्ञान का घटित होना शब्द की विमर्श की सामर्थ्य पर निर्भर है, भले ही वहाँ शब्दभावना अभी पूरी तरह स्पष्ट न हो। अनेक अवसरों पर हमारी तुरन्त प्रतिक्रिया होती है, भले ही हमारा उस संबन्ध में सक्रिय चिन्तन न हो। सर्प को देखते ही मनुष्य की प्रवृत्ति तुरन्त वहाँ से भाग जाने की होती है यद्यपि वह इस प्रकार का चिन्तन नहीं करता : "यह सर्प है, मेरे

[1] Matilal, B.K. 1990: *The Word and the World*, Delhi: Oxford University Press.

प्राण ले सकता है, मुझे तुरन्त भागना चाहिए।" यह विमर्श ही है जो इस प्रतिक्रिया को संभव बनाता है।

कश्मीर शैव दार्शनिकों के अनुसार चैतन्य प्रकाश के साथ विमर्शमय भी है, अन्यथा वह जड़ प्रकाश ही होगा :

> स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
> प्रकाशार्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, 1.5.11.

ज्ञान के प्रकाश में और अन्य प्रकाश में एक प्रमुख भेद यह है कि ज्ञान में आत्मचेतना (अहंप्रत्यवमर्श) है जो अन्य प्रकाश (दीपक, अग्नि अथवा स्फटिकादि जो दूसरे पदार्थों को प्रतिबिम्बित करते हैं) में नहीं है। अभिनव कहते हैं कि यह विमर्श शब्दमय है क्योंकि यह आन्तरिक संवाद है: "प्रत्यवमर्शश्चान्तरभिलापात्मकशब्दनस्वभावः।" यह संवाद अभी शब्दों में व्यक्त नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती क्षणों में होने वाली शाब्दिक अभिव्यक्ति का स्रोत है। यह एक प्रकार की आन्तरिक स्वीकृति है जैसे हमने अपने आपसे ही सहमति में सिर हिलाया हो (अन्तर्मुखशिरोप्रख्यम्)। शब्दरूपता के बिना ज्ञान में अहंप्रत्यवमर्श नहीं हो सकता, भले ही शब्द का प्रयोग व्यक्त रूप में न हुआ हो।

वा.प., 1.124 की वृत्ति में कहा गया है कि जहाँ चेतना स्पष्ट न हो (असञ्चेतितावस्था) वहाँ भी सूक्ष्म वाग्धर्म रहता ही है। यदि ज्ञान शब्दात्मक न हो तो उत्पन्न होकर भी वह ज्ञान विषय के रूप को ग्रहण न कर पाने के कारण उसके प्रकाशन का साधन नहीं बनेगा। ऐसे ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं होगा। वह ऐसा ही होगा जैसे हमने चलते चलते किसी मिट्टी के ढेले को या घास के तिनके को छू लिया हो। इसलिए वाग्रूपता ज्ञान का स्वरूप वैसे ही है जैसे प्रकाशकत्व अग्नि का अथवा चैतन्य आत्मा का : "यथा प्रकाशकत्वमग्नेः स्वरूपं चैतन्यं वान्तर्यामिणस्तथा ज्ञानमपि सर्वं वाग्रूपमात्रानुगतम्" (वृत्ति, 1., पृ.190)।

परवर्ती दार्शनिकों के लिए भर्तृहरि की ये दोनों कारिकाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही हैं। चाहे भर्तृहरि के मत की आलोचना के लिए हो अथवा उसके समर्थन के लिए, अनेक दार्शनिकों ने इन कारिकाओं को उद्धृत किया है। कारिका 123 की व्याख्या में उल्लिखित आचार्यों के अतिरिक्त वादिदेवसूरि, भोज (शृङ्गारप्रकाश) अभिनवगुप्त (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी) रामकण्ठ (स्पन्दकारिकाविवृति) आदि ने भी दोनों कारिकाएँ उद्धृत

प्रकाश और ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक होने से समानधर्मा है। वाग्रूपता के सम्बन्ध में जो स्थिति प्रकाश की है, वही ज्ञान की है। प्रकाश प्रकाश्य वस्तु के आकार में गृहीत होता है और ज्ञान ज्ञेय वस्तु के आकार में। दोनों की इस समानधर्मिता के कारण ज्ञान-22-को प्रकाश भी कहते हैं। वाणी या वाक् इन दोनों को प्रकाशित करनेवाला तत्व है।

की हैं। कमलशील ने इनमें से प्रथम कारिका (न सोऽस्ति प्रत्ययो॰) तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में दो स्थलों पर उद्धृत की है।

125. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥

अनुवाद : वह (ज्ञान की शब्दरूपता) सभी विद्याओं, शिल्पों और कलाओं की आधार है। उत्पन्न होने के उपरान्त प्रत्येक वस्तु का विभाग उसी के द्वारा किया जाता है।

व्याख्या : शब्द की व्यापकता पर ही आगे चर्चा की जा रही है। समस्त ज्ञान वाणी के माध्यम से व्यक्त होकर ही विद्या, शिल्प और कलाओं में अभिव्यक्त होता है। सभी प्रकार की विद्याओं (वेद, व्याकरण, पुराण, दर्शन आदि) का विकास वाणी के माध्यम से हुआ है। इसी प्रकार शिल्प (स्थापत्य, भवन-निर्माण, वस्तुओं की रचना) और कलाएँ (संगीत, चित्रकला, नाट्य आदि) भी वाणी के बिना संभव नहीं। बुद्धि में इनका ग्रहण और अन्य व्यक्तियों को इनका उपदेश भी वाणी के द्वारा ही होता है। मनुष्य की सभी प्रवृत्तियाँ भाषा के माध्यम से ही संभव होती हैं।

पशु आदि की प्रवृत्तियाँ मनुष्य के अधीन हैं, अतः उनमें भी शब्द की भूमिका माननी चाहिए। 'यह घट है, यह पट है', इस प्रकार के पदार्थगत भेद भी शब्द के माध्यम से ही संभव होते हैं। यदि उत्पन्न वस्तुओं को नाम न दिये जाएँ तो उनका भेद दिखलाना ही संभव न हो। समस्त पदार्थ किसी न किसी नाम से युक्त होकर ही अपने निर्माता की बुद्धि में अवधारित होते हैं (वाग्रूपतावशादन्तस्तन्निष्पन्नं वस्तु पश्चाद् विभज्यते, बहीरूपेण क्रियते। – पद्धति, पृ.192)।

इसलिए वा.प., 1.121 की वृत्ति में कहा गया है कि सत्तावान् पदार्थ भी यदि शब्द व्यवहार का अंग नहीं बनता तो असत् के समान ही है। दूसरी ओर (जैसा आगे कारिका 129 में कहेंगे) अत्यन्त असत् पदार्थ, जैसे शशशृंग, आकाशपुष्प आदि भी शब्दरूप से जुड़कर सत्तायुक्त प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार शब्द सभी ज्ञान-विज्ञान, समस्त व्यवहार और सभी वस्तुओं का कारण एवम् आधार है।

126. सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामव्यतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु॥

अनुवाद : वह वाग्रूपता ही संसार के सभी प्राणियों की बाह्य और आन्तरिक चेतना है। सभी प्रकार के प्राणियों में अवस्थित चैतन्य इस वाग्रूपता के स्वरूप (मात्रा) से परे नहीं जाता।

व्याख्या : हमारे बाह्य व्यवहार हों अथवा सुख, दुःख जैसी आन्तरिक अनुभूतियाँ, सभी की चेतना वाक् से जुड़ी हुई है। चैतन्य से युक्त सभी प्राणी, चाहे वह स्पष्ट भाषा बोलने में समर्थ मनुष्य हो या फिर अव्यक्त शब्द वाले पशु-पक्षी हों, कोई भी वाग्रूपता से रहित नहीं है। इसी के आधार पर संसारी चेतन अथवा अचेतन कहे जाते हैं। वृत्ति में दिये गये एक उद्धरण में कहा गया है कि जब वाक्तत्त्व प्राणियों में से निकल जाता है तो वे काष्ठ अथवा किसी दीवार की तरह संज्ञाहीन हो जाते हैं। यह वाक्तत्त्व ही है जो उन्हें सार्थक क्रियाओं में प्रवृत्त करता है –

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्।।

पशुओं का आन्तरिक ज्ञान भी शब्द से जुड़ा हुआ है। इस कारिका की वृत्ति में दो प्रकार के चैतन्य की चर्चा की गई है : स्वमात्रा-संबोध वाला चैतन्य और स्व-पर-संबोध वाला चैतन्य। वृषभदेव बतलाते हैं कि वृक्ष आदि स्थावर जातियों में केवल स्वसंबोध है जबकि मनुष्य एवं पशु-पक्षी जैसे जंगम प्राणियों में स्वपरसंबोध दोनों ही हैं, अर्थात् उन्हें न केवल अपना ज्ञान होता है अपितु वे दूसरों का भी ज्ञान रखते हैं। ये दोनों प्रकार के चैतन्य वाग्रूपता से जुड़े हुए हैं। इसलिए चैतन्य की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो वाक्शक्ति से जुड़ी हुई न हो। वृत्ति में ही दिये एक अन्य मत के अनुसार तो चैतन्य और वाक् में कोई भेद ही नहीं है (वाक्तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमित्यन्ये। – वृत्ति, 1. पृ.193)। वही परा प्रकृति है और वही विभिन्न आकारों को ग्रहण करती है। सभी पदार्थों का स्रोत वही है। जो इस वाक् की उपासना करते हैं वे मृत्यु से परे हो जाते हैं –

ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते।

कुछ विद्वानों के अनुसार केवल चेतन पदार्थ ही नहीं, अपितु पाषाण आदि अचेतन कहलाने वाले भी पदार्थ सर्वथा चेतनाहीन नहीं हैं। उनमें भी संवेदन एवं स्पन्दन है किन्तु वाणी के अभाव में इन्हें अचेतन कहा जाता है (वामदेव आचार्य 1987: पृ. 244)।

127. प्रविभागे यथा कर्ता तया कार्ये प्रवर्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते।।

कर्ता + कर्म

अनुवाद : जिस प्रकार जाग्रत् अवस्था में (प्रविभागे) कर्ता उस (वाक्) के द्वारा ही कार्य में प्रवृत्त होता है, स्वप्नावस्था में (अविभागे) उसी प्रकार वह (वाक्) ही कार्य (अर्थात् साध्य) के रूप में भी स्थित होती है।

व्याख्या : जाग्रत् और स्वप्न, दोनों अवस्थाओं में वाक् ही समस्त व्यवहार का कारण है। प्रविभाग का अर्थ है वह अवस्था जहाँ शब्दब्रह्म स्वयं को कर्ता, कर्म, करण जैसे भेदों के रूप में प्रदर्शित करता है। ब्रह्म की संवर्त अवस्था जहाँ सभी विकार उसी में लीन हैं, अविभागावस्था है। जीव के स्तर पर जाग्रत् अवस्था प्रविभाग की अवस्था है क्योंकि वहाँ कर्ता, कर्म, करण आदि विभाग व्यावहारिक रूप से होते हैं। इस अवस्था में मनुष्य साध्य, साधन आदि का विभाग वाणी के माध्यम से करता है। वह वाक् द्वारा ही अपने कार्य में प्रेरित होता है। जाग्रदवस्था की भाँति स्वप्न में भी कर्तृ-कर्म-विभाग की प्रतीति होती तो है किन्तु वहाँ बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता तो है नहीं; जैसा कि निम्नलिखित श्रुति में कहा गया है – न तत्र रथा रथयोगाः, न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथश्च सृजते (स्वप्न में न रथ हैं, न घोड़े हैं, न मार्ग है, स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही रथों, रथ के घोड़ों और मार्गों का सृजन करता है)। अतः स्वप्न में कर्तृ-कर्म-विभाग वस्तुतः होता नहीं। फिर इस प्रतीति का कारण क्या है? भर्तृहरि के अनुसार वाक् ही इस प्रतीति का कारण है। वही बाह्य वस्तुओं का रूप धारण करती है और इस प्रकार साध्य व साधन के रूप में भासित होती है। वही कर्ता भी है क्योंकि उसके अतिरिक्त स्वप्न में कुछ है ही नहीं। यद्यपि जागरण अवस्था में भी शब्दब्रह्म ही भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में भासित होता है जैसा पीछे वा.प., 1.4 की व्याख्या में कह चुके हैं (भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः) तथापि स्वप्न में यह अवभासन सर्वथा स्पष्ट है क्योंकि वहाँ बाह्य वस्तु का अभाव सर्वप्रसिद्ध है। इसीलिए एक ब्रह्म से अनेकत्व की प्रतीति की व्याख्या के लिए स्वप्नद्रष्टा पुरुष का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। वा.प., 1.4 की वृत्ति में भी कहा गया है कि जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपने विज्ञान द्वारा ही अपने एकत्व का त्याग किये बिना सृष्टि का निर्माण करता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म की परस्पर विलक्षण भोक्ता, भोग्य और भोगरूप ग्रन्थियाँ किसी बाह्य तत्त्व के न होने पर भी प्रकट होती हैं : "एकस्य हि ब्रह्मणः ..... स्वप्नविज्ञानपुरुषवद् (अ)-बहिस्तत्त्वाः परस्परविलक्षणा भोक्तृभोक्तव्यभोगग्रन्थयो विवर्तन्ते।" (वृत्ति, 1. पृ. 21-22)

128. स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।
तथैव रूढतामेति तया ह्यर्थो विधीयते।।

अनुवाद : संपूर्ण जगत् अपना (अर्थात् आत्मा का) ही अंश या स्वरूप हो अथवा परमात्मा का, पदार्थ वैसे ही रूढ़ होते हैं जैसे वाणी द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं; शब्द द्वारा ही पदार्थ का विधान किया जाता है।

व्याख्या : वृत्ति में स्वमात्रावादियों और परमात्रावादियों के मध्य भी विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है। स्वमात्रावादी मानते हैं कि सभी विकार द्रष्टा पुरुष अथवा जीवात्मा का ही स्वरूप हैं, उससे व्यतिरिक्त जगत् के पदार्थों की सत्ता ही नहीं है। वे प्रत्येक व्यक्ति के भीतर समाविष्ट हैं किन्तु बाह्य रूप में भासित होते हैं। वस्तुतः आन्तर और बाह्य के भेद केवल व्यवहार में ही हैं। आत्मा एक और अमूर्त है, अतः यह भेद वास्तविक तो हो नहीं सकते। स्वमात्रावादियों में एक अन्य मत यह भी है कि ज्ञान और ज्ञेय के समस्त भेद एक चितिक्रियातत्त्व के परिणाम हैं। परमात्रावादियों के अनुसार परम चैतन्य ही सभी पदार्थों का स्रोत है। वही विविध पदार्थों के रूप में विभक्त होता है। इनमें भी अनेक मत हैं। कुछ के अनुसार तिलों से निकलने वाले तेल की भाँति सभी पदार्थ चैतन्य से पृथक् हो जाते हैं। दूसरे मत में यह प्रक्रिया अग्नि से निकलने वाली चिंगारियों की भाँति' अथवा बीज से निकलने वाले वृक्ष के सदृश है। पहले उदाहरण में चैतन्य अथवा परमात्मा से जगत् की अभिव्यक्ति क्रमिक है जबकि दूसरे में वह युगपत् है। द्वैतवादियों की व्याख्या के अनुसार यह उदाहरण परमेश्वर और जीव में अंशांशिभाव का प्रतिपादन करता है। परमेश्वर अंशी है और जीव उसका अंश।

यहाँ भर्तृहरि बतलाते हैं कि दर्शनभेदों में सत्ता के स्वरूप का जो भी प्रतिपादन हो, चाहे बाह्य जगत् की वस्तुसत्ता हो या वह मात्र बुद्धि की रचना हो, उसके विषय में हमारी समझ भाषा द्वारा ही निर्धारित होती है। भाषा पदार्थों को जिस रूप में प्रस्तुत करती है वे उसी रूप में भासित होते हैं। जब बाहुवेग से पत्थर फेंका जाता है तो वह न तो ऊपर जाता है, न सामने, अपितु पृथ्वी पर ही गिरता है। उसका ऊपर जाना या सामने जाना केवल शाब्दिक व्यवहार है जो लोकप्रयोग पर आधारित है। इसी प्रकार समस्त दर्शनों के भेद का मूल भी शब्द द्वारा प्रस्तुत व्यवहार में ही है।

1. अग्नि और उसकी चिंगारियों का दृष्टान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में दिया गया है जिसे वृषभदेव प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत करते हैं : यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एतस्मादात्मनो व्युच्चरन्ति (बृह. उप. 2.1.20)।

129. अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा।।

अनुवाद : अत्यन्त असत्य आधार वाले अग्निचक्र आदि में शब्द के कारण वस्तु के आकार की प्रतीति देखी जाती है।

व्याख्या : वाक् की सर्वव्यापकता को दिखलाने के लिए भर्तृहरि एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। न केवल सत् पदार्थ ही शब्द द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, अपितु असत् पदार्थ भी शब्द का संस्पर्श पाकर सत् जैसे प्रतीत होते हैं। हम सभी जानते हैं कि अग्निचक्र जैसी कोई वस्तु यथार्थ जगत् में नहीं होती। जलती हुई मशाल को चक्राकार घुमाकर भी ऐसा कोई पदार्थ वास्तव में उत्पन्न नहीं किया जा सकता। फिर भी 'अग्निचक्र' शब्द के सुनने पर हमारे मानस में ऐसे पदार्थ का बिम्ब उभरता है। शब्द अर्थ को अपने स्वरूप में समेटे रहता है और सुना जाने पर मानो उसे उत्पन्न करता है। पदार्थ की बाह्य सत्ता है या नहीं, इस पर शब्द का अस्तित्व अवलम्बित नहीं। तभी तो 'अग्निचक्र' कहने पर एक ऐसा अर्थ मानस में उभरता है जो 'रथचक्र' के समान गोल घूमने की क्रिया से युक्त है और फिर यह अर्थ के रूप में रूढ़ हो जाता है। 'चक्र' पद के प्रयोग के कारण ही ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'शशविषाण', 'वन्ध्यापुत्र', 'आकाशकुसुम', जैसे शब्द भी हमारे समक्ष किसी न किसी अर्थ या अवधारणा को प्रस्तुत करते ही हैं। हम निश्चित रूप से जानते हैं कि खरगोश के सींग नहीं होते, आकाश से फूल नहीं बरसते फिर भी 'शशशृंग' या 'आकाशपुष्प' जैसे शब्द निरर्थक नहीं हैं। इसीलिए कहा गया है –

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च।

वस्तुतः शब्द सीधे बाह्य सत्ता को अभिधेय के रूप में व्यक्त नहीं करता। जो पदार्थ वस्तुतः सत् हैं वे भी जब शब्द द्वारा अभिधेय के रूप में कहे जाते हैं तो शब्द उनकी बौद्ध सत्ता का ही संकेत करता है। बुद्धि में प्रतिभासित अर्थ ही वैयाकरणों के अनुसार शब्द का अर्थ है। शब्द के उच्चारण से जब उस बुद्धिगत अर्थ का बोध हो जाता है तब अन्य प्रमाणों से उसकी वस्तुसत्ता अथवा उसके अभाव का ज्ञान होता है। यदि केवल सत् पदार्थ ही शब्द का विषय होते तो 'वृक्ष नहीं है' ऐसा प्रयोग हम न कर पाते क्योंकि जो पदार्थ है ही

नहीं उसके लिए 'वृक्ष' शब्द के प्रयोग की संभावना भी तब न होती। इसीलिए वृत्ति में कहा है कि पदार्थ की वास्तविक सत्ता हो या न हो, प्रत्येक व्यक्ति की अपनी धारणा और अपने संस्कारों के अनुसार शब्दों से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए 'घट' कहने पर किसी सामान्य व्यक्ति को जलानयन में समर्थ, आकारविशेष से युक्त पदार्थ का बोध होता है, वैशेषिक के मत में उससे अवयवी का बोध होता है और बौद्ध के लिए परमाणुओं के संघात का। इस प्रकार सत् अथवा असत् सभी पदार्थों के विषय में व्यवहार का आधार शब्द ही है।

वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)

मिथिलेश चतुर्वेदी
संस्कृत विभाग, दिल्ली वि.वि.,
दिल्ली – 110007

पाठ 11
(कारिका 130-141)

130. अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।

अनुवाद : वक्ता के अन्तर में शब्द के रूप में अवस्थित इस आत्मा को महान् वृषभ भी कहा गया है जिसके साथ सायुज्य (मानव जीवन का परम) अभीष्ट है।

व्याख्या : महाभाष्य में व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए पतञ्जलि ऋग्वेद 4.58.3 को उद्धृत करते हैं।[1] इस मन्त्र में कहा गया है कि वह महान् देव मरणधर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है जिसके चार सींग, तीन पाद, दो सिर और सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बँधा हुआ वह वृषभ गर्जना करता है। इस मन्त्र के शब्दों में विद्यमान प्रतीकों की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द ही महान् देव है (देखें : महाभाष्य, पस्पशाह्निक)। पतञ्जलि ने कहा है कि चार सींगों का अर्थ है : चार प्रकार के शब्द, अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। महाभाष्य की व्याख्या में नागेश इन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। पतञ्जलि इस मन्त्र की व्याख्या के अन्त में कहते हैं कि उस महान् देव के साथ हमारी समानता हो, इसके लिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए – ''महता देवेन नः साम्यं स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।'' भर्तृहरि साम्य के स्थान पर यहाँ 'सायुज्य' शब्द का प्रयोग करते हैं और उनका अनुसरण करते हुए नागेश भी 'साम्य' की व्याख्या सायुज्य के रूप में देते हैं। भर्तृहरि का मानना है कि हमारा आत्मा शब्दस्वरूप ही है। उस शब्द के साथ तादात्म्य ही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि की दृष्टि में शब्दस्वरूप हमारा यह अन्तरात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है।

---

[1] चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश।।

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।। महाभाष्य (पस्पशाह्निक)

चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश।। ऋग्वेद, 4.58.3 (महा; पस्प.)

जैसा इस कारिका की वृत्ति में कहा गया है, शब्दात्मा दो प्रकार का है : नित्य एवं कार्य। व्यक्त शब्द कार्य है जिससे लोकव्यवहार चलता है। यह कार्यशब्द मनुष्य के अन्तर में वाक्तत्व के रूप में स्थित परम पुरुष के प्रतिबिम्ब को ही ग्रहण करता है। नित्य शब्द पद-पदार्थ के रूप में अभिव्यक्त होने वाले भेद का मूल स्रोत है। वहाँ कोई क्रम नहीं है। वही समस्त विकारों की मूल प्रकृति है, वही सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर ब्रह्म है। यह शब्द ही आन्तरिक ज्योति है जिसके साथ तादात्म्य को प्राप्त करने से पूर्व वाग्योग का ज्ञाता अहंकार की ग्रन्थियों को काट कर भेद से सर्वथा मुक्त हो जाता है और इस प्रकार मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत प्रसंग में सायुज्य से भर्तृहरि का यही तात्पर्य है।

131. तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते।।

अनुवाद : इसलिए शब्द का संस्कार परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। उस (शब्दब्रह्म) की क्रिया के तत्त्व का ज्ञाता अमृत ब्रह्म को प्राप्त करता है।

व्याख्या : शब्द के संस्कार का अर्थ है प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन द्वारा शब्द के विश्लेषण के माध्यम से साधु शब्दों का ज्ञान और असाधु शब्दों का परिहार। शब्द की महिमा का वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। जब शब्द ही हमारा अन्तरात्मा है और उस अन्तरात्मा का साक्षात्कार ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है तो निश्चय ही उस शब्द का संस्कार परम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ाया हुआ पहला कदम है। वैयाकरण की दृष्टि में असाधु शब्दों का प्रयोग आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग में बाधा है। अतः अपने प्रतिदिन के वाग्व्यवहार में अशुद्ध शब्दों को हटाकर साधु शब्दों का व्यवहार साधक की पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। इस प्रकार के व्यवहार से उसे धर्म की प्राप्ति होती है। इस धर्म के आविर्भाव से अभ्युदय (इहलोक एवं परलोक में समृद्धि) की प्राप्ति तो निश्चित है ही, इसका निरन्तर अभ्यास मनुष्य को शब्दपूर्वयोग की ओर ले जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह शब्दब्रह्म की प्रवृत्ति, अर्थात् छः प्रकार के भावविकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमति, अपक्षीयते, नश्यति) की तत्त्वस्वरूप प्रतिभा, का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और क्षेम (आध्यात्मिक लक्ष्य अथवा मोक्ष) की प्राप्ति उसके लिए सुनिश्चित हो जाती है। वह जान लेता है कि ये सभी भावविकार शब्दब्रह्म के विवर्त मात्र हैं। किन्तु इसके पश्चात् उसे अपने शास्त्रज्ञान को भी पीछे छोड़कर, समस्त क्रम से मुक्ति पाकर, समस्त ग्रन्थियों को काटकर परम ज्योति के

साथ तादात्म्य प्राप्त करना होगा। इसीलिए भर्तृहरि अनेक स्थलों पर शास्त्र को अविद्या कहते हैं। वह ब्रह्मप्राप्ति में उपाय तो हो सकता है किन्तु यदि वहीं रुक जाएँ, तो अहंकार और अविद्या के बन्धनों को तोड़ा नहीं जा सकता। वृत्ति में यह प्रक्रिया विस्तार से बतलाई गई है। वहाँ स्पष्ट है कि साधु शब्दों का ज्ञान और प्रयोग न केवल अभ्युदय, अपितु मोक्ष की भी प्राप्ति कराता है। किन्तु मोक्ष की ओर जाने के लिए हमें साधु शब्दों के ज्ञान और प्रयोग से अगले सोपान भी पार करने हैं। इसकी चर्चा हम इससे पूर्व 14वीं और 20वीं कारिका की व्याख्या में कर चुके हैं।

मूल में शब्दसंस्कार को ही परमात्मा की प्राप्ति कहा गया है। यहाँ, प्राप्ति का अर्थ है प्राप्ति का उपाय। क्योंकि शब्दसंस्कार क्रमशः ब्रह्म की प्राप्ति में हेतु बनता है अतः उसे ब्रह्म की प्राप्ति ही कह दिया है (देखें, पद्धति – "सिद्ध्युपायः सिद्धिः। ...... पारम्पर्येण सिद्धेर्हेतुत्वात्संस्कारः सिद्धिः।")।

कदापि

132. न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवातो व्यवस्थिता।।

अनुवाद : कोई भी व्यक्ति आगम को अपौरुषेय स्वीकार नहीं करता। अतः, सभी आगमों के विनाश के बाद भी अवस्थित रहने वाली त्रयी ही उनका बीज है।

व्याख्या : शब्द के संस्कार को शब्दब्रह्म की प्राप्ति में आवश्यक बतलाकर भर्तृहरि व्याकरण की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं क्योंकि व्याकरण नामक स्मृति ही शब्द के संस्कार का उपाय है (वा.प., 1.141)। वेद शब्दरूप हैं और भर्तृहरि वेद को परमात्मस्वरूप ही मानते हैं, इसलिए शब्दसंस्कार के प्रसंग में वे वेद के अपौरुषेयत्व की भी चर्चा कर रहे हैं। प्रश्न उठता है कि व्याकरण आदि स्मृतियाँ तो मनुष्य द्वारा रचित हैं, अतः उनमें दोष भी संभव हैं। फिर उनका प्रामाण्य कैसे स्वीकार किया जाये? भर्तृहरि यह मानते हैं कि आगम पौरुषेय है। किसी भी आगम के अनुगामी उन्हें अकर्तृक नहीं कहते। सांख्य आदि सभी शास्त्र कपिल आदि किसी न किसी कर्ता द्वारा रचित हैं। किन्तु स्मृतियों का प्रामाण्य उनके वेदमूलक होने के कारण है। और सभी स्मृतियाँ नष्ट हो जाने पर भी वेद नष्ट नहीं होते क्योंकि वे चैतन्य की भाँति अपौरुषेय हैं (वा.प., 1.41 एवं 144)। प्रलय के बाद भी आगमों के लुप्त हो जाने पर वे अन्य आगमों के लिए बीज के रूप में कार्य करते हैं और उनके

(आगमानुयायी – न्याय वेदान्तादि दर्शनों के अनुयायी)

त्रयी - वेद

आधार पर अन्य आगमों की रचना की जा सकती है। व्याकरण और साधु शब्दों को धर्म एवं मोक्ष का साधन कहने वाली मान्यता का प्रामाण्य भी श्रुतिमूलक होने के कारण ही है।

133. अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि।
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म लोको न व्यतिवर्तते।।

अनुवाद : सभी (धर्माधर्म-संबन्धी) मतों का (कालक्रम से) नाश हो जाने के अनन्तर और अन्य आगमकर्ताओं के आविर्भाव से पूर्व भी लोग श्रुति और स्मृति में बतलाए कर्मों का उल्लंघन नहीं करते।

व्याख्या : वृत्ति में यहाँ लोक का अर्थ 'शिष्ट' किया गया है। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि विभिन्न आचार्यों द्वारा रचित आगमग्रन्थ लुप्त हो जाएँ और नए ग्रन्थों का निर्माण न हो तो उस अन्तराल में भी धर्म के नियम लोकपरम्परा की स्मृति में सुरक्षित रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म के कुछ शाश्वत सिद्धान्त अवश्य हैं जो अपौरुषेय वेद में प्रतिपादित हैं। उनके आधार पर ही सभी शास्त्रों के कर्ता अपने शास्त्रों की रचना करते हैं। इस प्रकार श्रुतिपरम्परा का लोप कभी नहीं होता। शिष्टजन अपनी अपनी परम्परा और शाखा-संप्रदाय के अनुसार जो आचरण करते हैं उसमें वह परम्परा सुरक्षित रहती है। इस संपूर्ण प्रकरण में वेद एवं आगम-परम्परा के प्रति भर्तृहरि की निष्ठा परिलक्षित होती है। भर्तृहरि यहाँ श्रुति अथवा त्रयी को अन्य सभी आगमों का शाश्वत बीज कहते हैं और अन्य आगमों की अपेक्षा उसके उत्कर्ष का प्रतिपादन करते हैं।

134. ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तत्राम्नायो निबन्धनम्।।

अनुवाद : यदि ज्ञान स्वभावतः ही हो तो शास्त्रों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। यदि ज्ञान का हेतु धर्म हो तो वेद उस धर्म का आधार है।

व्याख्या : विधि-निषेध अर्थात् कर्त्तव्याकर्तव्य का ज्ञान स्वतः ही हो तो फिर शास्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं है। कपिल, कणाद, शुकदेव आदि मुनि जन्म से ही ज्ञानी थे। किन्तु आद्य ऋषियों कपिल, कणाद आदि ने जब अन्य मनुष्यों के लिए शास्त्रों की रचना की तो इसी से सिद्ध होता है कि उनका ज्ञान अन्य मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट एवं विलक्षण था। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी मनुष्यों का ज्ञान जन्मजात नहीं है। जिनमें धर्म का अतिशय है

उन्हीं में इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान का कारण धर्म है। उस धर्म का साक्षात्कार होने के कारण ही ऋषि सर्वज्ञ माने गए हैं : साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः (निरुक्त 1.20.2)। उस धर्म का आधार वेद है। वेद के द्वारा ही ये ऋषि पहले धर्म का पालन कर चुके हैं और इसलिए वे अन्य मनुष्यों को शास्त्रोपदेश करने की क्षमता से संपन्न हैं। इस प्रकार समस्त आगमों का मूल होने के कारण अपौरुषेय वेद ही धर्म के विषय में प्रमाण हैं, यह स्वीकार करना चाहिए। इसीलिए भर्तृहरि पहले भी (वा.प., 1.30) कह चुके हैं कि ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक है। वेद ही आद्य ऋषियों के ज्ञान का भी स्रोत है। उसमें उपदिष्ट धर्म का आचरण करते हुए ही वे भिन्न भिन्न रूपों में ज्ञान को प्राप्त करते हैं और विभिन्न शास्त्रों की रचना करते हैं।

135. वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते।।

अनुवाद : वेद और शास्त्र से अविरुद्ध तर्क (धर्म को साक्षात्) देखने में असमर्थ व्यक्ति के लिए नेत्र हैं क्योंकि केवल शब्दस्वरूप मात्र से वाक्य के अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता।

व्याख्या : वेद के प्रामाण्य की स्थापना के अनन्तर, यहाँ तर्क की भूमिका की चर्चा की जा रही है। अनुमान अथवा तर्क वहीं तक स्वीकार्य है जहाँ तक वह अपने शास्त्र का बाधक नहीं है। जिस परम्परा का हम अनुसरण कर रहे हैं उसी के मूल का उच्छेद करने वाला तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता। भर्तृहरि की दृष्टि में वेद सत्य का साक्षात्कार है। अतः वेद और परम्परा से विच्छिन्न तर्क को वे निरर्थक मानते हैं। परम्परा से कटा हुआ तर्क केवल शुष्क तर्क है (शब्दशक्तिरूपापरिगृहीतस्तु ..... सर्वागमोपघातहेतुत्वादनिबन्धनः शुष्कस्तर्क इत्युच्यते। – वृत्ति, वा.प., 1.137 पर)। सभी शास्त्रों में बहुत कुछ ऐसा भी बतलाया गया है जो सामान्य मानवीय बुद्धि की सीमा से परे है। जो भाव बुद्धि की सीमा से परे हैं उनके विषय में तर्क करना व्यर्थ है। इसीलिए कहा गया है –

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
नाप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः।।

ऐसी स्थिति में तर्क का क्या उपयोग है। भर्तृहरि के अनुसार तर्क का उद्देश्य है आगम के वाक्यों से सही अर्थ का ज्ञान। वाक्य में वे ही शब्द रहने पर भी उनका अर्थ भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न हो सकता है। 'सूर्यास्त हो गया', यह एक सामान्य लौकिक वाक्य है। जंगल में पैदल यात्रा करने वालों के लिए इसका अर्थ हो सकता है कि अब

रुककर कहीं डेरा डालना चाहिए। मन्दिर के पुजारी के लिए इसका अर्थ हो सकता है कि आरती का समय हो गया है। इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियों के लिए इसके अर्थ भिन्न हो सकते हैं। जो मनुष्य केवल सतही अर्थ को देखकर वाक्यार्थ का निश्चय कर लेता है वह उसके तात्पर्य को भली भाँति नहीं समझ पाता। इसलिए सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्र का उद्देश्य वैदिक वाक्यों की व्याख्या के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। उदाहरणार्थ, मीमांसा में अङ्गाङ्गिभाव को स्पष्ट करने के लिए श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक प्रमाण बतलाए गए हैं (देखें, अर्थसंग्रह)। जो लोग वेद के द्वारा धर्म को सही रूप से नहीं समझ सकते उन्हें वेद के अर्थ को समझाने के लिए तर्क का उपयोग किया जाता है। किन्तु तर्क की भूमिका श्रुति के आनुरूप्य में है। विभिन्न श्रुतिवाक्यों में संगति बैठाने के लिए हमें तर्क की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। यह आवश्यक है कि श्रुति के व्याख्यान में, उसके वाक्यों में परस्पर विरोध न दिखे। यह मानना होगा कि सत्य एक है। अब यदि श्रुति के वाक्य उसका उपदेश भिन्न भिन्न प्रकार से करें तो उसे न समझने वाले में उनके अर्थ के विषय में भ्रान्ति, और श्रुति के प्रति अनास्था उत्पन्न होगी। इन विभिन्न वाक्यों में एकवाक्यता स्थापित करने में तर्क का उपयोग है। इसीलिए मनु कहते हैं –

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।। (मनु., 12.106)

ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकर भी कहते हैं कि जगत् के कारण को बतलाने वाले उपनिषद-वाक्यों के होते हुए उन उपनिषद-वाक्यों के अविरोधी अनुमान का हम निषेध नहीं करते क्योंकि वह उन वाक्यों के अर्थ के विषय में हमारी समझ दृढ़ करता है; श्रुति के सहायक के रूप में तर्क स्वीकार्य है – "सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतः जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते, श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याभ्युपेतत्वात्" (ब्र.सू., 1.1.2 पर शांकरभाष्य)।

अतः जो व्यक्ति धर्म का साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता उसे वेद के तात्पर्य का निश्चय करने में सहायता देने के कारण तर्क नेत्र के समान है।

136. सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते।।

अनुवाद : कभी शब्द द्वारा अर्थ की उपलब्धि होने पर भी उसकी अविवक्षा, कभी किसी अर्थ का अन्यार्थपरक होना, कभी लिङ्ग (संकेत) द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति, इस प्रकार तर्क द्वारा वाक्यार्थ के निर्णय की व्यवस्था को अनेक प्रकार से विभाजित किया जाता है।

व्याख्या : तर्क द्वारा वाक्यार्थ का निश्चय किस प्रकार किया जाता है, इस विषय में मीमांसादर्शन में कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए शास्त्रपरम्परा में 'तर्क' शब्द मीमांसा के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है। भर्तृहरि उनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करते हैं। अनेक अवसरों पर शब्द द्वारा व्यक्त अर्थ की उपस्थिति होते हुए भी उस अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरण के लिए, पाणिनिसूत्र 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' के अनुसार कर्ता के ईप्सिततम कारक की कर्मसंज्ञा होती है। यहाँ 'कर्तुः' के एकवचन होने पर भी एकत्व की विवक्षा नहीं है। इसलिए एक कर्ता हो या अनेक, उन सभी के ईप्सिततम की कर्मसंज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार 'ईप्सिततमं' शब्द में नपुंसकलिङ्ग की विवक्षा नहीं है क्योंकि पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग वाले शब्दों की भी कर्मसंज्ञा हो जाती है। जैसे 'घटं करोति' अथवा 'घटीं करोति' में। 'यदि ये दोनों बीमार पड़ें तो इन्हें अमुक औषधि दे देना'।[1] इस वाक्य में ये दोनों (एतौ) में द्वित्व अविवक्षित है, अतः दोनों में से किसी एक के भी बीमार पड़ने पर औषधि दी जानी है। मीमांसा के प्रसिद्ध वाक्य 'ग्रहं संमार्ष्टि' में 'ग्रह' पद में एकत्व अविवक्षित है। इस वाक्य द्वारा सोमयाग में ग्रह (सोमपात्र) के संमार्जन का विधान किया गया है। यहाँ द्वितीया एकवचन का प्रयोग है किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में एकत्व का कोई अर्थ नहीं। जितने भी 'ग्रह' यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं उन सभी के संमार्जन का विधान इस वाक्य द्वारा किया गया है। ग्रहों का विधान पहले ही 'ग्रहैर्जुहोति' द्वारा हो चुका है। इसलिए 'ग्रहं संमार्ष्टि' में ग्रहमात्र उद्‌देश्य है एकत्व नहीं और संमार्जन विधेय है।

कहीं कहीं किसी शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया जाता है अतः उससे उपलब्ध अर्थ की अनिवार्य रूप से विवक्षा होती है। 'गर्भाष्टमे ब्राह्मणमुपनयीत', यहाँ ब्राह्मण शब्द में पुल्लिङ्ग की विवक्षा मानी गई है। इसलिए पुंस्त्वविशिष्ट ब्राह्मण का ही उपनयन होता है, ऐसी व्यवस्था दी गई है। 'पशुना यजेत' में एकत्व संख्या और पुंल्लिङ्ग की विवक्षा है, अतः याग संपन्न करने के लिए एक से अधिक पशुओं की आवश्यकता नहीं।

---

[1] यद्येतौ व्याधितौ स्यातां देयं स्यादिदमौषधम्।
इत्येवं लक्षणेऽर्थस्य द्वित्वं स्यादविवक्षितम्।। वा.प., 3.1.53

पारार्थ्य का अर्थ है परार्थ का भाव, अर्थात् शब्द के अर्थ का किसी अन्य अर्थ के लिए होना। अविवक्षा और परार्थ में अन्तर यह है कि अविवक्षा में शब्द में अर्थ की उपलब्धि होने पर भी उसकी उपेक्षा कर दी जाती है क्योंकि वाक्यार्थ में उसका कोई उपयोग नहीं। पारार्थ्य में वह अर्थ उपलक्षण का कार्य करता है। 'कौओं से दही को बचाना' इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि उसे कुत्ते आदि अन्य प्राणियों से नहीं बचाना है। 'कौआ' यहाँ उन सभी प्राणियों का उपलक्षण है जो दही को हानि पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार परार्थ में शब्द के अर्थ की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जाती अपितु किसी दूसरे अर्थ को बतलाने के लिए उसका उपयोग किया जाता है। वृत्ति में इस विषय में दिया गया मीमांसाप्रसिद्ध उदाहरण है – "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्"। इस वाक्य में मौनव्रत धारण किये व्यक्ति के लिए नक्षत्र को देखकर बोलने का अर्थात मौनव्रत तोड़ने का विधान किया गया है। यहाँ नक्षत्र-दर्शन व्रत का अंग नहीं है। नक्षत्र को देखने का अर्थ है, नक्षत्र उदित होने पर। 'नक्षत्र' शब्द यहां स्वपरक न होकर कालविशेष को बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसलिए इस वाक्य का अर्थ हुआ नक्षत्रों के उदयकाल अर्थात् रात्रि में व्रत का समापन करे। अतः यदि कभी बादलों के कारण नक्षत्र का दर्शन न हो तब भी काल का ज्ञान होने पर व्रत खोला जाता है और संपूर्ण सूर्यग्रहण के कारण यदि दिन में नक्षत्र-दर्शन हो भी तो व्रत नहीं खोला जाता।

कभी कभी किसी लिङ्ग या संकेत के आधार पर भी वाक्यार्थ का निश्चय किया जाता है। यज्ञ में किसी स्नेह-द्रव्य से मिश्रित शर्करा को रखने का विधान किया है – 'अक्ताः शर्करा उपंदधाति।' मिश्रण के लिए स्नेहनपदार्थों में तेल भी हो सकता है, घी भी। इस वाक्य के समीप 'तेजो वै घृतम्' वाक्य भी पढ़ा गया है जिससे घी की प्रशंसा का बोध होता है। इस घृतप्रशंसा की सामर्थ्य से यह अर्थ फलित होता है कि शर्करा को घृत के साथ मिश्रित करना है तेल से नहीं।

इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रसंगों में तार्किक आधार पर वैदिक वाक्यों के अर्थ का निर्णय किया जाता है। यदि यह तर्क वेदविरुद्ध न हो तो इसे वैदिक वाक्यों के सहकारी के रूप में ग्रहण किया जाता है।

137. शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
स शब्दानुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः।।

अनुवाद : पुरुषनिष्ठ तर्क शब्द की ही सामर्थ्य है। वह तर्क यदि शब्द का अनुसरण करें तभी निर्णायक है; आगमरहित शब्दों में होने वाला तर्क आधारहीन (अनिबन्धन) है।

व्याख्या : लिङ्ग, प्रकरण आदि से जिस अर्थ का निश्चय किया जाता है वह शब्द की ही शक्ति है, तर्क भी शब्द की शक्ति का ही अनुसरण करता है। तर्क द्वारा शब्दों को मनमाने अर्थ नहीं दिये जा सकते। इसलिए एक स्वीकृत ढाँचे के अन्तर्गत ही पुरुषनिष्ठ तर्क को स्वीकार किया जा सकता है। अतः जो तर्क शब्द की शक्ति से प्रसूत नहीं होता वह आधारहीन कल्पना मात्र है। भर्तृहरि की दृष्टि में अपौरुषेय वेद में शब्द की यह सामर्थ्य अपनी संपूर्णता में विद्यमान है। मानवीय तर्क में उपलब्ध सभी संभावनाएँ वेद में अन्तर्निहित हैं और वहीं से मनुष्य को वह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है जिससे वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर सके। अतः भर्तृहरि की मान्यता है कि स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष प्रामाण्य केवल वेद का ही हो सकता है। वेद अथवा आगम के सहायक के रूप में ही तर्क प्रमाण है, अन्यथा वह मात्र शुष्क तर्क है जो किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा सकता।

वेद के विषय में भर्तृहरि के कथनों की चर्चा करते हुए हमें ध्यान रखना चाहिए कि उनकी दृष्टि में वेद शब्दब्रह्म या शब्दतत्त्व का अनुकार (प्रतीक) ही है। वेद धर्म का साक्षात्कार कर चुके ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं जिन्होंने सूक्ष्म, नित्य और अतीन्द्रिय वाक् का साक्षात् दर्शन प्राप्त किया था। अपनी संपूर्ण परम्परा को त्यागकर कोरे तर्कवाद के समक्ष समर्पण को भर्तृहरि स्वीकार नहीं करते।

138. *रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः।*
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥

139. *यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम्।*
साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिनाम् ॥

अनुवाद :

138. जिस प्रकार रूप आदि की प्रत्येक पदार्थ में नियत सामर्थ्य देखी जाती है और इसी प्रकार विष-निवारण आदि कार्यों में शब्दों की भी स्पष्ट सामर्थ्य दिखलाई जाती है।

139. जिस प्रकार उन (विष-निवारण आदि) में इनकी (रूप आदि की एवं विशेष ध्वनियों की) सामर्थ्य है उसी प्रकार धर्म की प्राप्ति में भी साधु शब्दों की शक्ति माननी चाहिए। इसीलिए अभ्युदय के इच्छुक व्यक्तियों को साधु शब्दों (के माध्यम) से व्यवहार करना चाहिए।

व्याख्या : 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति', इस प्रकार के शास्त्रवचनों के आधार पर भर्तृहरि पहले ही कह चुके हैं कि साधु शब्द धर्म के साधन हैं यद्यपि अर्थबोध तो असाधु शब्दों से भी हो जाता है (शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् – वा.प., 1.27)। फिर भी यदि कोई कहे कि साधु शब्दों को ही धर्म का साधन क्यों माना जाए तो भर्तृहरि उसके समाधान के लिए युक्तियों से भी शास्त्रवचन की पुष्टि करते हैं। निश्चित विषयों की शक्ति निश्चित पदार्थों में ही देखी जाती है। नीला या हरा वर्ण नेत्रों को ताज़गी देता है जबकि वही रूप बहुत चमकदार हो तो नेत्रों के लिए हानिकारक है। विभिन्न फलों में फलत्व समान होते हुए भी कुछ फल वायु एवं कफ उत्पन्न करते हैं जबकि कुछ इन्हें समाप्त करने वाले हैं। विष का स्पर्श मारने वाला है जबकि चन्दन, शीतल जल, आदि का स्पर्श प्राणवत्ता प्रदान करता है। पृथक् पृथक् औषधियों में यद्यपि रोग को दूर करने की सामर्थ्य है फिर भी निश्चित रोग में निश्चित औषधि ही दी जाती है, अन्यथा रोग के उपचार के स्थान पर रोग बढ़ने की भी संभावना हो सकती है। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है किन्तु अन्य वस्तुओं में यह सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण विभिन्न व्याख्याओं में दिये गये हैं और अपने आसपास के जीवन में भी देखे जा सकते हैं। दृष्ट परिणामों की भाँति ही अदृष्ट के विषय में भी शक्तियों की यह भिन्नता स्वीकार की गई है। मदिरा के स्पर्श और पान से अधर्म, और तीर्थजल के स्पर्श और पान से धर्म की सिद्धि होती है, यह माना गया है। तपस्वियों के दर्शन से पुण्य और दुर्जनों के दर्शन से पाप होता है। रूप, रस आदि की भाँति शब्दों की भी सामर्थ्य निश्चित है। कुछ विशेष ध्वनियों के उच्चारण से सँपेरे सर्पविष की चिकित्सा करते हैं। अथर्ववेद में भी इस प्रकार के मन्त्र हैं जो विष को दूर करने वाले हैं; जैसे अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड का 13वाँ सूक्त ('ददिर्हि महां वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्' आदि)। उसी अर्थ में अन्य शब्दों का उच्चारण किया जाए तो अपेक्षित प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार मन्त्रों एवं स्तोत्रों के पाठ से अदृष्ट पुण्य की प्राप्ति मानी गई है। इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सभी की अपने अपने विषय में नियत सामर्थ्य है।

जब शास्त्र अथवा अनुभव के आधार पर हम इन प्रसंगों में नियत सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं तो शास्त्र के आधार पर यह मानना भी युक्तिसंगत होगा कि साधु शब्दों

के प्रयोग से धर्म-प्राप्ति होती है। अतः अभ्युदय की कामना से, न केवल यज्ञ में अपितु लौकिक व्यवहार में भी, साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, असाधु शब्दों का नहीं। असाधु शब्दों के प्रयोग से व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के उपहास का पात्र भी बनता है। साधु शब्दों के प्रयोग से वह न केवल इस उपहास से बच जाता है अपितु अभ्युदय और निःश्रेयस को भी प्राप्त करता है। अतः साधु शब्दों का व्यवहार दृष्ट और अदृष्ट, दोनों प्रकार से फलदायक है। साधुशब्दों के निर्धारण के लिए व्याकरण का आश्रय लेना चाहिए, यह पहले भी कह चुके हैं और आगे भी कहेंगे।

139 कारिका के चतुर्थ पाद में प्रायः सभी संस्करणों का पाठ 'अभ्युदयार्थिनाम्' है। अर्थतः यह शब्द 'वाच्यम्' के अनुक्त कर्ता के रूप में प्रतीत होता है। अतः यहाँ तृतीया विभक्ति होनी चाहिए। 'अभ्युदयार्थिभिः' पाठ मानने पर इस कारिका का अन्वय इस प्रकार होगा – "यथा एषां (शब्दानां) तत्र (विषापहरणादिषु) सामर्थ्यं दृश्यते एवं धर्मेऽपि साधूनां (शब्दानां सामर्थ्यं) प्रतीयताम्। तस्मात् अभ्युदयार्थिभिः (जनैः) साधुभिः (शब्दैः) वाच्यम्।" वृत्ति से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है – "... इत्यतो अभुयदयार्थिभिः .... व्यवहारे साधव एव शब्दाः प्रयोक्तव्याः।" वृषभदेव की टीका भी इसी पाठ की पुष्टि करती प्रतीत होती है – "यस्माद्धर्माङ्गत्वं साधूनां तस्माद् साधुभिर्वाच्यमभ्युदयकामेन इति।" किन्तु एक-दो संस्करणों को छोड़कर सर्वत्र 'अभ्युदयार्थिनाम्' पाठ मिलता है। इस पाठ को स्वीकार करें तो यहाँ कर्ता के अर्थ में षष्ठी माननी चाहिए।

140. सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे।।

अनुवाद : सभी व्यक्ति अदृष्ट फल वाले विषयों को आगम से ही स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत (यदि कोई कहता है तो वह) सभी आगमों के विषय में कहा जा सकता है।

व्याख्या : यह उन लोगों के लिए है जो साधुशब्दों को धर्म का साधन मानने वाले आगम को स्वीकार नहीं करते। कोई कह सकता है कि असाधु शब्दों से जैसे अर्थबोध संभव है वैसे ही धर्म की प्राप्ति भी माननी चाहिए। यह भी तर्क दिया जा सकता है कि सँपेरे या भील आदि अशुद्ध शब्दों द्वारा ही सर्पविष आदि का उपचार कर लेते हैं, अतः धर्म में भी इसी प्रकार अशुद्ध शब्दों की सामर्थ्य क्यों न मानी जाए। इस विषय में भर्तृहरि कहते हैं कि इस प्रकार का विपरीत कथन तो सभी आगमों के विषय में संभव है। 'असाधु शब्दों के

प्रयोग से धर्म होता है', यदि कोई ऐसा कहे तो यह भी कहा जा सकता हे कि 'असत्य भाषण से धर्म होता है' अथवा कि 'दान से अधर्म होता है'। किन्तु ऐसा कहने वाले की बातों को उन्मत्त का प्रलाप ही माना जाएगा। यदि इस प्रकार के कथनों को स्वीकार किया जाए तो सर्वत्र ही आगम का उच्छेद प्राप्त होगा। इसलिए दृष्ट और अदृष्ट सभी विषयों में किसी आगम को प्रमाण रूप में स्वीकार करके उसके अनुसार व्यवहार करना ही उचित है। निराधार शुष्क तर्क द्वारा कर्म का निश्चय नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान अदृष्ट के विषय में किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा सकते, अतः इसके विषय में आगम ही एकमात्र प्रमाण हो सकता है।

141. साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्।।

अनुवाद : शब्दों के साधुत्व का ज्ञान कराना इसी व्याकरण-स्मृति का विषय है। यह शिष्टों की अविच्छिन्न स्मृति-परम्परा को सुरक्षित रखने वाली रचना है।

व्याख्या : आगम ही शब्दों के साधुत्व के विषय में प्रमाण है। आगम श्रुतिरूप भी है और स्मृतिरूप भी। वह कौन सा आगम है जिससे शब्दों के साधुत्व की व्यवस्था की जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि व्याकरण-शास्त्र को प्रमाणभूत स्मृति के रूप में उपस्थापित करते हैं। जिस प्रकार भक्ष्य-अभक्ष्य आदि आचरणों के विषय में मनु, याज्ञवल्क्य आदि द्वारा निबद्ध स्मृतियाँ प्रमाण हैं उसी प्रकार शब्दों के साधुत्व-असाधुत्व के ज्ञान में पाणिनि आदि द्वारा निबद्ध व्याकरण-स्मृति प्रमाण है। व्याकरण को स्मृति कहकर भर्तृहरि बतला रहे हैं कि यह किसी व्यक्ति की मनमानी कल्पना नहीं है अपितु अविच्छिन्न परम्परा का संरक्षित रूप है। शिष्टजनों द्वारा अविच्छिन्न रूप से आचरण में उतारे गए नियमों को ही स्मृति के रूप में सुरक्षित रखा जाता है। जैसा आगे (कारिका 145 में) कहेंगे, स्मृति की रचना भावों की वास्तविक प्रकृति को जानकर श्रुति में उपलब्ध संकेतों के आधार पर की जाती है। पाणिनि ने भी पूर्व आचार्यों द्वारा प्रणीत व्याकरणों का समवेश करते हुए अपनी अष्टाध्यायी का प्रणयन किया है, और इसलिए उसमें भी साधुशब्द-विषयक शिष्टपरम्परा हमें सुरक्षित रूप में प्राप्त होती है। वा.प., 1.43 की वृत्ति में भी कहा गया है कि शब्द-स्वरूप की भिन्न भिन्न काल में दीखने वाली विविधता से युक्त पूर्व ऋषियों के स्मृतिशास्त्रों को प्रमाण मानकर

आचार्यों ने इस शब्दानुशासन की रचना की है। काशिका में 'अथ शब्दानुशासनम्' पर टीका करते हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं कि पाणिनि साधु शब्दों का ज्ञान आपिशलि के व्याकरण से प्राप्त करते हैं, आपिशलि अपने पूर्व व्याकरणों से। किन्तु पाणिनि अपने समय में प्रचलित शब्दों का प्रत्यक्ष करते हुए पूर्व व्याकरणों में उनकी सत्ता का अनुसंधान करते है। अतः यह कोई अन्धपरम्परा नहीं है – "कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति? आपिशलेन व्याकरणेन। आपिशलिना तर्हि केनावगतम्? ततः पूर्वेण व्याकरणेन।"

कुमारिल अपने तन्त्रवार्तिक (मीमांसासूत्र 1.3.27) में कहते हैं कि साधुशब्दों की सिद्धि व्याकरण से ही होती है और वही वैदिक एवं लौकिक शब्दों के ज्ञान का उपाय है –

"तस्मान्न लोकवेदाभ्यां कश्चिद् व्याकरणादृते।
वाचकाननपभ्रष्टान् यथावज्ज्ञातुमर्हति।।"
"तेनोभयज्ञानस्यापि व्याकरणमेवोपाय इति।" तन्त्रवार्तिक, पृ. 215.

कुमारिल उस मत का भी खंडन करते हैं जो व्याकरण को स्मृति अथवा शास्त्र कहने पर आपत्ति करता है।